ख़ाली बोतल

[पीड़ित मानवता के चीत्कार और जागरण की

कलापूर्ण कथायें]

लेखक
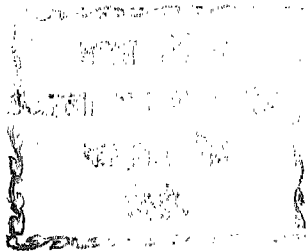
भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक

गौतम बुक डिपो, देहली

प्रकाशक—
गौतम बुक डिपो,
देहली।

सन् १९५०
मूल्य २)

मुद्रक—
अमर चन्द
राजहंस प्रेस
सदर बाजार
दिल्ली।

वाजपेयीजी की कहानियाँ

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जिनकी यह नयी रचना पाठकों के हाथ में है, हिन्दी के प्रमुख ख्यातिप्राप्त कथाकार हैं। उनका परिचय कराने की आवश्यकता मुझे नहीं। इन कहानियों के सम्बन्ध में भी यदि किसी का वक्तव्य देना आवश्यक था तो उनका ही। नई जिम्मेदारी और नए आत्म-सम्मान की धारणा ऐसी ही है। किन्तु उन्होंने ऐसा न करके और थोड़ी-सी ग़लतफ़हमी के लिए रास्ता खोलकर भी (रास्ता यह कि एक वाजपेयी पुस्तक लिखें। और दूसरी वाजपेयी भूमिका) यह काम मुझे सौंप दिया है। इस व्यतिरेक के कुछ विशेष कारण हैं, जिनकी चर्चा मैं आगे करूँगा। सबसे पहले मैं वह ग़लतफ़हमी दूर कर दूँ जिसका सीधा सम्बन्ध मुझ से है।

उसे दूर करने के लिये आवश्यक है कि मैं भूमिका लेखक के शिष्टाचार और समीक्षक के प्रतिबन्धों को थोड़ी देर के लिए अलग रख दूँ। तभी मैं यह कह सकूँगा कि वाजपेयीजी की कृतियों का गहरा प्रेमी मैं कभी नहीं रहा। मैं यह मानता हूँ कि व्यावहारिक समालोचना का मुख्य कार्य यही है कि वह प्रत्येक कृति का अपना सौंदर्य, जो कुछ उसमें है, उद्घाटित कर दे

और इस दृष्टि से आलोचक अपने द्वारा उठाए हुए काम के दायरे में बँधा हुआ भी है। पर मैं यह भी मानता हूँ कि प्रत्येक समीक्षक अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व भी रख सकता है। और इस हैसियत से वह अपनी रुचि के अनुसार अपना निजी वक्तव्य और सन्देश भी सुना सकता है। उसका यह दोहरा कार्यकलाप अथवा व्यक्तित्व ध्यान देने योग्य है। एक में वह मुख्यतः साहित्य और कलाओं की विभिन्न कृतियों का अनुशीलन और विश्लेषण करता तथा उनके गुण दोषों को सामने रखता है और दूसरे में वह अपनी रुचि या प्रकृति के अनुसार स्वतंत्र होकर जो चाहता पढ़ता और जो चाहता लिखता है। किसी कृति की समीक्षा करते हुए तो उसे अपनी स्वतंत्र रुचि का विज्ञापन करने का अधिकार नहीं होता, पर अन्य समयों में वह ऐसा कर सकता है। कभी-कभी समीक्षक के इस दोहरे आचरण से भ्रान्ति भी फैलने की संभावना रहती है, किन्तु इस कारण वह अपनी स्वतंत्र अभिरुचि का समर्पण नहीं कर सकता। हाँ, किसी विशेष कला रचना की विवेचना करते समय उसे अपनी यह अभिरुचि काम में नहीं लानी चाहिए।

अस्तु, मेरी व्यक्तिगत अभिरुचि ऐसी नहीं है कि मैं हठात् वाजपेयीजी की रचनाओं का पक्षपाती हो सकूँ। सच तो यह है कि वह सारा साहित्य जो व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं, असाधारण परिस्थितियों, ऐकान्तिक मनोविज्ञान और सामाजिक निष्क्रियता और उद्देश्यहीनता का निरूपक है, चाहे वह

साहित्यिक दृष्टि से कितना ही प्रशस्त और ललित क्यों न हो, मेरी अपनी रुचि के अनुकूल नहीं। कला जब अपना लक्ष्य सूक्ष्म मानसिक प्रेरणा का चित्रण अथवा अनोखी स्थितियों और मनोदशाओं का प्रदर्शन बना लेती है, तब वह लोक-प्रिय न रहकर वैज्ञानिक और दुरूह बन जाती है। और जब कलाकार अपने युग की अथवा किसी अन्य युग की किंकर्तव्यज्ञान-रहित, करुण और निष्प्राण सामाजिक चेष्टाओं और आदर्शों का खाका खींचने लगता है तब वह कला की दृष्टि से कितना ही समृद्ध क्यों न हो, मेरे विचार से सामूहिक अभ्युदय का क्षेत्र छोड़कर बड़ी हद तक इतिहास की सामग्री जुटाने लगता है। वह कितनी ही मार्मिक रीति से उस सामाजिक या सामूहिक अवसाद के विविध पहलुओं का चित्रण क्यों न करे अथवा दिवंगत आदर्शों और अभिलाषाओं के लिए (जो ऊपर से बड़ी सात्विक प्रतीत होती हैं किन्तु जिनका नवीन जीवन में लौटना न उपयोगी है, न संभव) अपनी कितनी ही कला सामग्री क्यों न व्यय करे, मुझे विशेष रुचिकर नहीं। वे कलाकर जो निष्प्राण करुण जीवन को चित्रित करते हैं दो श्रेणियों में आ सकते हैं। एक वे जो निष्प्राण जीवन को चित्रित कर उसके प्रति विरक्ति का भाव भरते हैं और दूसरे वे जो उस बीते या बीतते जीवन के लिए आंसू बहाते और पाठकों को द्रवित करते हैं। इनमें से प्रथम तो बुद्धि-व्यवसायी और प्रगतिशील कलाकार होते हैं और दूसरे होते हैं केवल भावना या कामना को चित्रित करने वाले

इनमें से कुछ तो बहुत ही समुन्नत कोटि के साहित्यकार हुए हैं। जिनमें मैं गाल्सवर्दी, वेल्स, चेखव, सडरमैन, जोला और फ्लावर्ट आदि की गणना करूँगा। इनकी कलात्मक विशेषताएँ जगजाहिर हैं। और केवल कला की दृष्टि से इनकी अनेक रचनाएँ बिल्कुल बेजोड़ हैं। मानस के सूक्ष्म प्रेरक सूत्रों की इनकी पहचान और उनका उद्घाटन पाठक को स्तंभित कर देता है। वे कला को विज्ञान की अकाट्यता, निस्पृहता और वास्तविकता प्रदान करने में समर्थ हुए हैं; किन्तु मेरी व्यक्तिगत रुचि उनकी ओर अधिक नहीं है। उनकी अपेक्षा कलात्मक पूर्णता की दृष्टि से चाहे हीन ही हों, पर टाल्सटाय और गोर्की, इब्सन और शा मुझे अधिक रुचते हैं। उनकी रचनाओं में निदारुण करुणा नहीं, बल्कि जीवन की वास्तविक ओजस्विता और प्रवाह हमें मिलते हैं। इनकी कला मनोविज्ञान के विश्लेषण में मुख्य रूप से प्रवृत्त नहीं है, मानव जीवन के साहसी और सक्रिय स्वरूपों की अभिव्यक्ति करने में लगी है। वह परिपूर्ण कला जो अगति या शून्य का चित्रण करती है हमें उतनी नहीं भाती, जितनी वह अपूर्ण कला जो जीवन का जाग्रत कलरव हमारे कानों को सुनाती है। यह मेरी कमजोरी हो सकती है पर स्थिति कुछ ऐसी ही है।

इस व्यक्तिगत स्थिति का इजहार करने के साथ ही मुझे कहना होगा कि वाजपेयीजी की रचनाओं की भूमि ऐकान्तिक है। कला के विकास के लिये यह भूमि बड़ी उपयोगी सिद्धि हुई

है। एक अवस्था विशेष, एक घटना विशेष, किसी मनुष्य विशेष अथवा उसकी मानसिक प्रवृत्ति विशेष को उसके आस-पास की चौहद्दी से अलग निकालकर और फिर उस टुकड़े को असाधारण योग्यता के साथ सजाकर दर्शक या पाठक के सामने प्रस्तुत कर देना वाजपेयीजी की सिद्धहस्त कला का नमूना है, जो उनकी इन कहानियों में पाई जाती है। उनकी कहानियों की तुलना मुक्तक काव्य से की गई है जिसमें सोने की तौल जैसी सफाई और राई-रत्ती तुली हुई डांडी होती है। आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द नहीं होता। इस संग्रह में इस कला का सबसे सुन्दर उदाहरण पहली कहानी है जिसका शीर्षक पुस्तक का शीर्षक भी है। इसमें खाली बोतल के प्रतीक एक व्यक्ति-विशेष का चित्रण किया गया है। उसके जीवन-सम्बन्धी एक विशेष प्रसंग की झांकियाँ कहानी में दी गई हैं; किन्तु उतने ही से उसका सारा जीवनचरित्र आँखों के सामने नाच जाता है। जैसा कि जरूरी था। यह खाली बोतल कहानी के अन्त में फूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गई है, जिसकी स्पष्ट ध्वनि यह है कि उस व्यक्ति का क्रिया कलाप समाप्त हो गया है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन, चुस्ती और कलात्मक पूर्णता की दृष्टि से यह कहानी निश्चय ही बहुत ऊँचा स्थान रखती है।

यह कहानी समाप्त होते हुए उच्चवर्गीय संस्कारों और मनोभावों का निरूपण करती है। कहानी का उद्देश्य इन मनोभावों की व्यर्थता को चित्रित करना है और इस दृष्टि से कहानी

का बहुत ही उपयुक्त अन्त हुआ है। उच्च वर्गों की वर्तमान अगतिपूर्ण मनोभावना इसमें स्पष्ट हो जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि लेखक का उद्देश्य इन मनोभावों का उपहास करना भी हो। वह तो उनका चित्रण करके ही अपने कर्तव्य की पूर्ति कर लेता है।

क्या इन कहानियों को हम 'मानवता के चीत्कार की कहानियाँ' कह सकते हैं (यह उपशीर्षक पुस्तक के प्रारम्भ में पाया जाता है)? मेरी अपनी धारणा यह है कि इनमें व्यक्तिगत दुखों का चित्रण होते हुए भी मानवता का चीत्कार इन्हें नहीं कहा जा सकता। अवश्य इन कहानियों में कुछ ऐसे आदर्शों का भी निरूपण है जिनमें त्याग और कष्ट सहन की भावना उभर कर सामने आई है। उदाहरण के लिये 'अंधेरी रात' कहानी में वेश्या के जीवन की एक साधना प्रदर्शित की गई है और 'मैना' तथा 'हारजीत' और 'ट्रेनपर' कहानियों में कुछ आदर्शों के लिये किये गये त्याग की झलक दिखाई गई है; किन्तु इस आदर्शवादी त्याग के लिये 'मानवता का चीत्कार' शब्द व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। इससे त्याग की महिमा घट जायगी। न इन्हें हम जागरण की कहानी कह सकते हैं। वास्तव में ये एक विश्रृङ्खल सामाजिक व्यवस्था के युग में रहने वाले व्यक्तियों के अनुपात और प्रायश्चित की कहानियाँ हैं और कला की दृष्टि से बहुत ही सुडौल कृतियाँ हैं। इनकी विशेषता वर्तमान स्थिति के वैषम्य के प्रदर्शन में है। यह आवश्यक नहीं

कि कलाकार सदैव 'चीत्कार अथवा जागरण' की कहानियों का ही निर्माण करे। न यही आवश्यक है कि वह इस वैषम्य के भीतर से उद्धार का कोई मार्ग भी खोज निकाले। वैषम्य और दुरवस्था का मर्मस्पर्शी चित्रण वह कर सका है, यही उसकी कला की सफलता और कृतकार्यता है।

ह्रासोन्मुख जीवन के निरूपक कलाकार अपनी रचनाओं में अधिकतर वस्तुवादी कलाशैली को अपनाते हैं और सूक्ष्म मानसिक वृत्ति द्वारा ही उस जीवन की करुणापूर्ण अगति का चित्र उपस्थित करते हैं। उनका लक्ष्य होता है उक्त अगति का नंगा चित्र प्रस्तुत करना ताकि पाठक उस विषम स्थिति का साक्षात्कार कर लें और तब उनके मन में प्रतिक्रिया जन्म ले किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अगति के सभी चित्रकार वस्तुवादी ही हों। वे आदर्शप्रवण भी होसकते हैं जैसा कि वाजपेयीजी अपनी कतिपय कहानियों में हैं। उदाहरण के लिए 'अंधेरी रात' कहानी में नायिका कजली जो वेश्या का व्यवसाय करती है अपनी शारीरिक पवित्रता की रक्षा कितने असाधारण कष्ट झेलकर करती है। यह उसी के शब्दों में प्रकट करना ठीक होगा—

'सिर से पैर तक वस्त्र-हीन होकर तब कजली बोली—जो अपराध तुमने मुझपर लगाए हैं, उनकी सफ़ाई मेरे बदन भर में पड़ी हुई इन काली, नीली, मिटी और बनी रेखाओं से पूछो, घावों के निशानों और जली हुई खाल की सफेदी से पूछो। रो

मैं सकती नहीं, नहीं तो आँसुओं से भी बहुत कुछ बतला सकती थी। था कभी आँसुओं का सोता, लेकिन अब वह सूख चुका है। इतने पर भी अगर विश्वास न हो तो पुलिस के पुराने कागजों में दर्ज आत्मघात के मेरे प्रयत्नों से पूछ देखो।'

यह आदर्शवाद भी घोर विवशता का परिचायक है। यह उद्धार का कोई मार्ग नहीं है। अंधकार का प्रगाढ़ करने में ही यह सहायक हुआ है।

ऐसी कलापूर्ण और निराशामयी स्थितियों के चित्रकार कभी-कभी स्वयं अपने चित्रों से विचलित हो जाते और अपनी तटस्थता अथवा अनासक्ति का त्यागकर स्वयं निराशा-मूलक भाग्यवादी दर्शन के अनुयायी हो जाते हैं। वे अपनी उस प्रारंभिक स्थिति को भूल जाते हैं जब वे चित्रकार मात्र थे। और कला की दृष्टि से अपना व्यवसाय कर रहे थे। अपनी कोमल प्रकृति और भावुकता के वश होकर वे उन चित्रों में जीवन का आदर्श देखने लगते हैं। किन्तु वे चित्र तो हैं अगति के आदर्श, उन्हें प्रगति का आदर्श कैसे बनाया जा सकता है! यहीं से कलाकार ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रण छोड़कर ह्रासोन्मुख कला की सृष्टि करने लगता है। वह समय के प्रवाह में बह चलता है, और अपना असली उद्देश्य छोड़ बैठता है। तब तो वह विवेक का त्यागकर लिप्सा और खुमारी का शिकार हो जाता और अगति में ही प्रगति की कल्पना करने लगता है। किन्तु सभी बड़े कलाकर खांई से खूब साव-

धान और सतर्क रहा करते हैं। वाजपेयीजी कई बार उस सीमा से इस सीमा में प्रवेश कर जाते रहे हैं। किन्तु यह अतिक्रमण क्रमशः कम होता जा रहा है और इन नई कहानियों में बहुत कुछ विरल है।

ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रकार अपना क्या संदेश सुनाए ? वह लम्बे-चौड़े आदर्शों का हवाला नहीं दे सकता, हिंसा-अहिंसा पर प्रवचन नहीं कर सकता। सभा-सोसाइटियों में मसीहा और दार्शनिक बनने का दम वह नहीं भरा करता। यह स्पष्ट ही इसलिये कि किसी गौरवपूर्ण आदर्शवाद या प्रगतिशीलता से उसका सम्बन्ध नहीं। यह संप्रति जिस नकारात्मक उद्योग में लगा हुआ है उसमें किसी प्रत्यक्ष ऊँचे उद्देश्य की दुहाई नहीं दे सकता। उसकी स्थिति उस डाक्टर की सी है जो आपरेशन का ही काम करता है। यह कोई आकर्षक या लोकरंजक काम नहीं कि भीड़ उसके पास जमा हो। आपरेशन वह करता है, लोगों में प्रेम की अपेक्षा भय की भावना बढ़ाता है और फिर भी किसी के सामने खुलकर वह नहीं कह सकता कि उसका मरीज चंगा ही हो जायगा। वह कुछ कहे या न कहे। किन्तु क्या इस बात में सन्देह है कि वह लोक-हितैषणा के कार्य में लगा हुआ है।

हमारे कतिपय कहानी-लेखक अध्यात्मवादी और अहिंसाव्रती हैं; उनकी रचनाओं में अहिंसा का पूर्ण परिष्कार चाहे न आया हो, पर अपना सन्देश वे सुना सकते हैं! कुछ अन्य कथाकार जो

शोषित के सहायक और निपीड़ित के पक्षपाती हैं, अपना लोक मोहक व्याख्यान जारी रख सकते हैं। उनमें से कुछ तो अपनी पूर्ववर्ती कलाकृतियों का केवल इसलिए उपहास करते हैं कि उसमें सहानुभूतिशील मध्यवर्ग के चित्रण मिलते हैं। कुछ अन्य हैं जो स्वातंत्र्य के सीमाविस्तार को ऐन्द्रिय लिप्सा के सीमा विस्तार का समानार्थी समझते हैं और लारेन्स और रोमानाफ और न जाने अन्य कितनों की दुहाई देकर साहित्य को अनाकांक्षित गंदगी का अड्डा बना रहे हैं। उन्हें यह मालूम नहीं कि यूरोप में किन क्रियाओं की प्रतिक्रिया लारेन्स आदि के द्वारा व्यक्त हुई है और भारत में उस स्थिति का अस्तित्व भी है या नहीं। अंतिम श्रेणी उन कथाकारों की है जो शुष्क तर्क या सिद्धान्त स्थापन के लिए कहानियाँ गढ़ते हैं किन्तु उनमें कला की विश्वसनीयता, निर्माण की कुशलता नाम मात्र को ही आ पाती है। इन वाचाल वर्गों के बीच वाजपेयीजी चुपचाप काम कर रहे हैं। वे अपनी पुस्तक की प्रस्तावना भी स्वतः नहीं लिखना चाहते।

वाजपेयीजी की शैली व्यंगयात्मक नहीं है; यद्यपि जीवन के व्यंग्य को वे काफी बेरहमी के साथ चित्रित करते हैं। उनका चित्रण-क्रम पूर्ण तटस्थता लिए हुए नहीं है और अक्सर यह शंका उत्पन्न करता है कि रचनाकार की व्यक्तिगत सहानुभूति भी अस्तव्यस्त जीवन की अस्तव्यस्त प्रवृत्तियों के प्रति है। इसी भ्रम के कारण कतिपय व्यक्तियों ने यह शिकायत

की है कि वाजपेयीजी किसी समुन्नत भावना से प्रेरित होकर साहित्य सृष्टि नहीं कर रहे, केवल ओछे ढंग की बंगाली भावुकता के हिन्दी प्रतिनिधि हैं। वस्तुवादी कलाकार की स्थिति इस दृष्टि से बड़ी संकट पूर्ण होती है। वह ह्रासशील वर्गों की शिथिल और निरुद्देश्य प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करने को बाध्य है। ओछी भावुकता भी उनमें से एक प्रवृत्ति है। अब यदि कलाकार पर्य्याप्त सचेष्ट नहीं है तो बहुधा इस आरोप की संभावना रहेगी कि वह स्वयं उन विकृतियों से आक्रान्त है। फिर जब रचनाकार स्वयं इस प्रकार का वाक्छल अपने उपहार-पत्र में जाने दे कि 'आप मादकता से बहुत घबराते हैं पर मैं तो जीवन को भी एक नशा मानता हूँ' तब भ्रान्ति का और भी बढ़ जाना स्वाभाविक है। पर असल में यह दिखावटी नशा है, खाली बोतल है। इसकी परीक्षा के लिए कई व्यावहारिक तरीके काम में लाये जा सकते हैं—

१. लेखक ने कहीं किसी पात्र को नशे में बुत बनाकर श्लीलता की सीमा तो नहीं पार कराई।

२. उसने नशे की स्थापना आदर्श रूप में की है या वस्तु के रूप में - उसका गुणगान किया है अथवा केवल चित्रण।

३. उसने नशे को सुखान्त या दुःखान्त चित्रित किया है।

यहाँ नशे से मेरा मतलब समाज की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों से है। वाजपेयीजी ने कहीं ऐसी प्रवृत्तियों को आदर्श या सुख-हेतुक मानकर चित्रित नहीं किया। इस संग्रह की अधिकांश

कहानियाँ दुःखान्त हैं जो ऐसे चित्रणों की स्वाभाविक परिणति होनी चाहिए। वाजपेयीजी इन सभी कसौटियों में खरे उतरते हैं। उनका लक्ष्य वस्तून्मुखी कला का निर्माण है। इस कार्य में वे क्रमशः अधिकाधिक सफल हो रहे हैं। समीक्षकों को उनके कार्य की कठिनाई समझनी चाहिए। आक्षेप करना बड़ा सरल धंधा है। पर कला की रचना करना कठिन कार्य है। विशेषतः वस्तून्मुखी कला की रचना करना--और वह भी जब वस्तु रमणीक और उदात्त नहीं, बल्कि उसके विपरीत है—आग के साथ खेलना है। समीक्षकों को यह कला सावधानी के साथ देखनी चाहिए।

रोमांटिक कल्पनाओं की वाजपेयीजी की कथाओं में कमी नहीं है; पर चारित्रिक और मनोवैज्ञानिक वैचित्र्य का उद्-घाटन उनकी नवीन आख्यायिकाओं में प्रधानता पाता जा रहा है। दुख और कष्टसहन उनके मुख्य आकर्षण हैं, उनकी कथाओं के निर्माण में इन्हीं दोनों का प्रधान स्थान है। असाधारणता की ओर प्रवृत्ति होने के कारण दुःख और कष्ट-सहिष्णु चरित्र भी वे उच्च और मध्यवर्गीय समाज में से चुनते हैं आर्थिक क्षेत्र में जो दुःखान्त नाटक 'सर्वहारा' समाज द्वारा खेला जा रहा है वाजपेयीजी ने अभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। अभी वे उच्च और मध्यम वर्ग की सामाजिक विशृङ्खला को ही दिखा रहे हैं। असल में यह भी नवीन सांस्कृतिक उत्थान का ही सहायक कला-आन्दोलन है यदि यह विवेकपूर्वक चलाया

जाय। विवेक से मेरा मतलब यह है लेखक अपना मूल उद्देश्य भूले नहीं कि उसे अपनी कलाकृति द्वारा पाठक की संवेदना सम्यक् रूप से जगाकर सम्यक् दिशा में लगानी है। दूसरे शब्दों में यह कि वह आत्म-विस्मृत न हो जाय।

बाजपेयी जी का विवेक पर्याप्त परिपुष्ट है और जहाँ तक निर्माण की सुघड़ता का प्रश्न है, हिन्दी कथा-साहित्य में निश्चय ही वे सब से आगे हैं।

—नन्ददुलारे बाजपेयी

क्रम

खाली बोतल

"हाँ, खाली ही है बोतल। इसी तरह बहुत दिनों से व्यर्थ रखी है। जैसे तुमने अभी टोंक दिया, वैसे ही और भी कई व्यक्तियों ने, समय-समय पर, इसके यहाँ इस तरह रखे रहने पर, आपत्ति के ढङ्ग पर, प्रश्न किया है। तो भी मैंने इसे जहाँ-की-तहाँ रहने दिया है। धूल जम गयी है, तो डस्टर से साफ कर दिया है। किसी ने, मेरे अज्ञात में, उठाकर जो कहीं भीतर रख दिया है, तो अनुपस्थिति का बोध होते ही, मैंने खोजकर, इसे फिर यहीं रख दिया है।"

उस दिन जान-बूझकर, मैंने इस बोतल के सम्बन्ध में, केदार बाबू से ऐसा प्रश्न कर दिया था कि उन्हें इतना बतलाना ही पड़ा। मेरे बड़े भाग्य थे, जो उन्होंने झुँझलाकर मुझसे कुछ और नहीं कहा। नहीं तो पता नहीं, मुझे उनका, कितनी दूर तक, कोप-भाजन बनना पड़ता।

इन केदार बाबू को मैं बीस वर्षों से जानता हूँ। इस मकान में वे तब भी अकेले ही रहते थे। स्वास्थ्य में अब थोड़ा अन्तर

आ गया है। गाल अब थोड़े पिचके-से मालूम होते हैं। आँखों के नीचे की पलकों में अब कुछ गहरी कालिमा झलकने लगी है। केश भी इक्का-दुक्का पका देख पड़ता है। बस, इतना ही अन्तर आ गया है। पर शरीर इनका जैसा दोहरा तब था, वैसा ही अब भी है। अत्यधिक पान खाने की आदत अब तक नहीं गयी। चश्मा पहले भी लगाते थे। हाँ, अब दाढ़ी-मूँछ बिलकुल साफ़ रखते हैं, पहले मूँछ ज़रा भरी-भरी-सी रहती थी।

होटल से खाना दोनों वक्त घर ही पर मँगा लेते हैं। सुबह-शाम, घण्टे-भरके लिए, एक नौकर भी रोजाना हाज़िरी दे जाता है। काम कुछ नहीं करते। पिता कुछ रुपया छोड़ मरे थे। वही बैंक में जमा रहा है। उसी से थोड़ा-थोड़ा ले-लेकर खर्च करते आ रहे हैं। सायंकाल पाँच-छः बजे पब्लिक लाइब्रेरी जाते हैं। वहाँ कई घण्टे बैठते हैं। फिर दस-ग्यारह बजे रात तक का अनिश्चित कार्यक्रम रहता है। कभी घर पर मिलते हैं, कभी ताला बन्द रहता है। प्रातःकाल ८ बजे साधारणतया यह कमरा खुला मिलता है और फिर दिन-भर खुला रहता है।

मैं प्रायः प्रातःकाल ही उनसे मिलने आता रहा हूँ। अक्सर मैंने उनको आराम-कुर्सी पर पैर फैलाये हुए सिगरेट पीते पाया है। पानों से भरा हुआ मुँह—ऊपर धूम्र-शिखाओं के बादल।

कभी मैं आया, चुपचाप निकट कुर्सी खिसकाकर बैठ भी गया, तो भी यदि वे बात करने के मूड में नहीं हुए, तो मौन

ही बने रहे। मैं घण्टे-आध-घण्टे बैठा और उठकर जाने लगा, तो भी कुछ बोले नहीं। प्रकृति से परिचित होने के कारण मैंने इसका कभी बुरा भी नहीं माना। कभी-कभी मुझे जाते हुए देखकर पूछ भर लिया है—"जाओगे? अच्छा।" उन्होंने इतना पूछा भी; किन्तु मैं तब संकेत से ही 'हाँ' कहकर चला आता रहा हूँ।

किन्तु ये सब बातें तो साधारण जीवन की हैं। उनके असाधारण जीवन की भी कुछ बातें हैं। अभी तक उनकी शृङ्खला नहीं बनी थी, कुछ तो यह कारण था। कुछ यह बात भी थी कि मैं उन्हें एक शृङ्खला में देख नहीं पाता था। पर आज वे मुझे पूर्णरूप से शृङ्खलित देख पड़ती हैं।

(२)

कई वर्ष पूर्व की बात है। आज की भांति वर्षा के ही दिन थे। मैं जब रात को नौ बजे उनके यहाँ से उठकर चलने लगा, तो बोले—थोड़ी देर और बैठो।

मैं बैठ गया। उनके इस प्रकार आदर-पूर्वक और थोड़ी देर तक बैठालने के अनुरोध को ग्रहणकर मुझे कुछ प्रसन्नता भी हुई।

उन्होंने कहा—कल प्रातःकाल शायद मेरे यहाँ कुछ मेहमान आयेंगे। सम्भव है, वे दो-चार दिन ठहरें भी। और सब प्रबन्ध तो मैंने ठीक कर लिया है। घूमने-फिरने की उन्हें दिक्क़त न हो;

आ गया है। गाल अब थोड़े पिचके-से मालूम होते हैं। आँखों के नीचे की पलकों में अब कुछ गहरी कालिमा झलकने लगी है। केश भी इक्का-दुक्का पका देख पड़ता है। बस, इतना ही अन्तर आ गया है। पर शरीर इनका जैसा दोहरा तब था, वैसा ही अब भी है। अत्यधिक पान खाने की आदत अब तक नहीं गयी। चश्मा पहले भी लगाते थे। हाँ, अब दाढ़ी-मूँछ बिलकुल साफ़ रखते हैं, पहले मूँछ ज़रा भरी-भरी-सी रहती थी।

होटल से खाना दोनों वक्त घर ही पर मँगा लेते हैं। सुबह-शाम, घण्टे-भरके लिए, एक नौकर भी रोज़ाना हाज़िरी दे जाता है। काम कुछ नहीं करते। पिता कुछ रुपया छोड़ मरे थे। वही बैंक में जमा रहा है। उसी से थोड़ा-थोड़ा ले-लेकर खर्च करते आ रहे हैं। सायंकाल पाँच-छः बजे पब्लिक लाइब्रेरी जाते हैं। वहाँ कई घण्टे बैठते हैं। फिर दस-ग्यारह बजे रात तक का अनिश्चित कार्यक्रम रहता है। कभी घर पर मिलते हैं, कभी ताला बन्द रहता है। प्रातःकाल ८ बजे साधारणतया यह कमरा खुला मिलता है और फिर दिन-भर खुला रहता है।

मैं प्रायः प्रातःकाल ही उनसे मिलने आता रहा हूँ। अक्सर मैंने उनको आराम-कुर्सी पर पैर फैलाये हुए सिगरेट पीते पाया है। पानों से भरा हुआ मुँह—ऊपर धूम्र-शिखाओं के बादल।

कभी मैं आया, चुपचाप निकट कुर्सी खिसकाकर बैठ भी गया, तो भी यदि वे बात करने के मूड में नहीं हुए, तो मौन

ही बने रहे। मैं घण्टे-आध-घण्टे बैठा और उठकर जाने लगा, तो भी कुछ बोले नहीं। प्रकृति से परिचित होने के कारण मैंने इसका कभी बुरा भी नहीं माना। कभी-कभी मुझे जाते हुए देखकर पूछ भर लिया है—"जाओगे? अच्छा।" उन्होंने इतना पूछा भी; किन्तु मैं तब संकेत से ही 'हाँ' कहकर चला आता रहा हूँ।

किन्तु ये सब बातें तो साधारण जीवन की हैं। उनके असाधारण जीवन की भी कुछ बातें हैं। अभी तक उनकी शृङ्खला नहीं बनी थी, कुछ तो यह कारण था। कुछ यह बात भी थी कि मैं उन्हें एक शृङ्खला में देख नहीं पाता था। पर आज वे मुझे पूर्णरूप से शृङ्खलित देख पड़ती हैं।

(२)

कई वर्ष पूर्व की बात है। आज की भांति वर्षा के ही दिन थे। मैं जब रात को नौ बजे उनके यहाँ से उठकर चलने लगा, तो बोले—थोड़ी देर और बैठो।

मैं बैठ गया। उनके इस प्रकार आदर-पूर्वक और थोड़ी देर तक बैठालने के अनुरोध को ग्रहणकर मुझे कुछ प्रसन्नता भी हुई।

उन्होंने कहा—कल प्रातःकाल शायद मेरे यहाँ कुछ मेहमान आयेंगे। सम्भव है, वे दो-चार दिन ठहरें भी। और सब प्रबन्ध तो मैंने ठीक कर लिया है। घूमने-फिरने की उन्हें दिक्क़त न हो,

इसलिए एक कार की ज़रूरत और रह गयी है। क्या तुम इसका प्रबन्ध कर सकते हो? पेट्रोल मैं अपना खर्च कर लूँगा। सायंकाल छः-सात बजे से रात के दस-ग्यारह बजे तक के लिए चाहिये। लेकिन अगर तुमको किसी मित्र से इसके लिए कहने में कुछ संकोच हो, तो इतना कष्ट सहने की आवश्यकता नहीं है। टैक्सी का प्रबन्ध हो ही जायेगा।

मैंने कह दिया—मैं चेष्टा करूँगा। मेरा खयाल है, प्रबन्ध हो जायेगा। हो गया, तो सबेरे भी स्टेशन से उन्हें ले आने के लिए उसे भिजवा दूँगा।

"तभी मैंने तुमसे कहा।" उन्होंने कुछ आर्द्रभाव से कह दिया और मैं उनकी विलसित मुद्रा को देखता रह गया! इतना उत्फुल्ल मैंने उन्हें पहले कभी नहीं देखा था।

मैं उसी समय उनके यहाँ से आकर सीधा अपने एक मित्र कैलाश बाबू के यहाँ चला गया। उस समय वे अपनी बारहदरी में बैठे सङ्गीत और सौन्दर्य्य की क्रीड़ा में लीन थे। थोड़ी देर बैठकर मैं जो चलने लगा, तो बोले—किसी काम से तो नहीं आये थे?

तब मैंने अपनी बात उनसे कह दी। उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया।

केदार बाबू के घर जो मेहमान आये थे, जब वे बिदा हो गये, तब मैं उनसे मिलने गया। वे मुझे उस कमरे के द्वार के पास,

अधखुले किवाड़ों के बीच मिले। बोले—उधर से आओ, मैं ज़ीना खोले देता हूँ।

मैं ज़ीने से चढ़कर ऊपर के कमरे में जा पहुँचा। वह उस समय इतना सजा हुआ था कि उसकी अभिनव शोभा को देखकर मैं चकित हो उठा। वे मेरे पास कुछ पक्वान्न तथा मिठाइयाँ रखकर बैठते ही बोले—व्यर्थ में ही उस दिन तुमको कष्ट दिया। बहुत हाथ सँभालकर ख़र्च किया, तो भी लगभग डेढ़ सौ रुपये ख़र्च हो ही गये। टैक्सी में थोड़ा ख़र्च और हो जाता। हाँ, यह बात जरूर हुई कि कैलाश बाबू ने कार एकदम नयी भेज दी। उन लोगों को भी यह नहीं अनुभव होने पाया कि वे किसी ग़रीब के घर आये हैं।

इसी समय वे उठे। एक बोतल ले आये। सोडा भी। शीशे के फेनिल गिलास को मुझे देते हुए बोले—लो, आज तुम भी थोड़ी-सी मेरे साथ पी लो।

मैंने हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया।

मैं इधर घूमा, उधर घूमा। कुछ अत्यन्त सुन्दर तसवीरें देखीं, कुछ मूर्तियाँ—नग्न, सङ्गमरमर की, मानव-सौन्दर्य की सजीव प्रतिमाएँ। कुछ खिलौने, कुछ अलमारी में सजी पुस्तकें। खिलौने और चित्र बच्चों से लेकर बुड्ढों तक के लिए। एक शिशु—बन्दर के कन्धे पर बैठा हुआ। एक प्रमदा की जङ्घा पर सिर रखकर सोता हुआ उसका प्रेमी। एक ऋषि के तलवे

चाटता हुआ मृग-छौना। एक मदारी डमरू बजाता हुआ। एक शिकारी बाघिन के सिर पर हाथ रखे हुए। एक पागल सड़क पर घूमने की दशा में, एक मेमना हरी दूब चरने को लानपर झुका हुआ; एक गिलहरी अमरूद कुतरती हुई। प्रेम का अभिनय करती हुई कपोती के साथ कपोत। बच्चे को चूमती हुई माँ, नातिन की अँगुली पकड़े हुए दादी। नाना की दाढ़ी के बालों में नन्हीं-सी अँगुली डालता हुआ नाती। स्वामी की महायात्रा के अवसर पर श्मशान की ओर पैदल, अधमरी-सी, चलती हुई नारी। ज़मीन खोदकर गड्ढे में सदा के लिए सोते हुए बच्चे को रखता हुआ पिता।

यह सब देखकर मैं हैरान रह गया। अपलक दृष्टि से मैं देर तक यह सब देखता गया। पुस्तकें उलटते-पुलटते हुए अकस्मात् पड़ गयी मेरे हाथ में एक पत्रिका। उसी को लेकर मैं एक ओर कोच पर जा बैठा। एक स्तम्भ में देखा—मालती गांगुली नाम की एक नारी का चित्र। उसकी छवि-माधुरी पर मुग्ध होकर, उसे दिखाने के इरादे से, ले गया केदार बाबू के पास। पर कुछ शक हुआ। उस पृष्ठ पर कुछ भीनी-भीनी, अत्यन्त मादक यह कैसी खुशबू आ रही है? यों चाहे कुछ पूछता भी। पर इस सुवास के इतिहास की आशङ्का से कुछ पूछना उचित नहीं समझा। किन्तु उसी पृष्ठ को देरतक देखते रहने के कारण वे बोले—

"मालती का चित्र है ?"

"है तो............।"

"देखूँ ?"

देखा। देखते ही रहे। फिर बोले—'बहुत पहले का है।'

गिलास अभी तक ख़ाली नहीं किया था, फिर उठा लिया। बोले—"आज तुमने मेरी बात नहीं मानी। मुझे तुमसे ऐसी उम्मीद नहीं थी।"....दो घूंट पिये और गिलास को फिर वहीं रख दिया।

मैंने कहा—"मिठाइयाँ और नमकीन तो मैंने आपके हिस्से का भी बहुत कुछ...." तो बात काटकर वे बोले—"इससे क्या ? ...उस स्तम्भ में और भी तो फोटोग्राफ्स हैं !"

अब की बार गिलास को ख़ाली कर दिया। पहले मुझे पान खिलाया, फिर ख़ुद खाया। फिर सिगरेट पीने लगे। थोड़ी देर बाद बोले—"आत्मदाह का धुआँ भी अगर साकार हो सकता ! लेकिन, क्या होता नहीं है ? मेरा ख़याल है—हो सकता है।"

(३)

कुछ दिनों के लिए एक बार कहीं बाहर चले गये थे। कई महीने मकान में ताला पड़ा रहा। किराया चढ़ रहा था। न मकान-मालिक को कोई सूचना दी, न मुझको। यह भी नहीं पता था, कहाँ गये हैं। मकान-मालिक मुझसे पूछता था—कब तक आयेंगे ? आयेंगे भी कि नहीं ?

मैं क्या कहता ?

फिर जो आये, तो बीमार पड़ गये। रोज मेरे पहुँचने पर कहते थे—अब इस बार मर जाना चाहता हूँ, बिहारी! जीवन को खूब समझ लिया। तबियत ऊब गयी। कहीं कुछ नहीं है। व्यर्थ का बोझ कौन सँभाले ?—स्वप्नों की माया। पागल मन का प्रमाद। कोरी मृग-तृष्णा। जानते हो, क्यों बीमार पड़ा हूँ ? जब से आया हूँ, बराबर उपवास ही से करता रहा। फिर जो तोड़ा भी, तो प्रतिक्रिया को सँभाल न सका, अत्यधिक प्यार की भी प्रतिक्रिया होती है बिहारी! कभी अनुभव किया है ?...तब तुम कुछ जान नहीं सके—जीवन को कतई समझ ही नहीं पाये। इतने दिनों तक मेहमानदारी में रहा। चाहता तो और भी कुछ दिनों तक रह सकता था। किन्तु सोचा—सब व्यर्थ है। मान लो कि कोई किसी का है ही; तो इससे क्या ? केवल होकर ही क्या होता है ? फिर मान लो कि कुछ हुआ भी, तो वह 'कुछ' जीवन की अनन्त अगाध धारा में कितने दिन साथ चलेगा ?

मेरी आदत पड़ गयी थी कि मैं इस प्रकार की बातें सुनता ही रहता था। बीच में कहीं जो उनकी गाड़ी रुकती थी, तो यह भी नहीं पूछता था कि यह स्टेशन कौन-सा है ? तभी वे मेरी इस शालीनता पर मुझसे बहुत प्रसन्न रहते।

उस बार सचमुच वे बहुत बीमार पड़ गये थे। अच्छे होने में

कई महीने लगे। कई बार जब बहुत घबड़ाये, तो बोले—एक तार देना चाहता हूँ बिहारी! किन्तु फिर सोच-सोचकर कहकर ही रह गये। तार किसी को दिया नहीं। जब अच्छे होने लगे, तो एक दिन आप ही आप मुस्कराकर बोले—'कहो तो अब तार दे दूँ!'

बस, इसी प्रकार प्रस्ताव करते और रुक जाते। पर, इन बीस वर्षों में, गिनती के दो-चार अवसर ही ऐसे आये, जब उन्होंने इस प्रकार के टूटे-फूटे प्रस्ताव किये। अन्यथा इस विषय में उन्होंने कभी अपनी ज़बान नहीं खोली। मैंने भी सदा उनका भाव देखकर ही उत्तर दिया। विरोध में कभी एक वाक्य तक नहीं कहा। इसलिए ऐसे अवसरों पर वे प्रायः मुझे 'नादान दोस्त' कह दिया करते थे!

अधिक बीमार होने पर तार न देकर, स्वस्थ हो जाने पर बीमारी का तार देने का प्रस्ताव करते हुए जो विमल हास उनकी मुद्रा पर झलक उठा था, आज जब उसकी याद आती है, तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे वही उनका आन्तरिक स्वरूप था। ऊपर से उत्तरङ्ग, भीतर से तपस्वी। प्रकट में विलसित—अन्तर में शान्त और जागरूक।

किन्तु उनके इस स्वरूप का ज्ञान मुझे उस समय तक नहीं हो सका था। मैं तो उन्हें एक चिरविरही-मात्र समझता था, निराश प्रेमी। दुनियाँ ऐसे दुखियों से भरी पड़ी है। उन्हीं में

से एक ये भी हैं। उस समय कुछ ऐसी ही धारणा मैंने उनके विषय में बना ली थी। किन्तु आज अपनी इस भूलपर मैं पछता रहा हूँ। आज कुछ बात ही और हो गयी है। बीस वर्ष तक मैंने उनका अध्ययन करके जो कुछ निश्चय कर पाया था, आज उन्होंने उसे बिलकुल ग़लत सिद्ध कर दिया। उन्होंने बतला दिया कि इतनी जल्दी और ऐसी आसानी के साथ समझ पाने के व्यक्ति वे नहीं थे। क्या थे, यह उनके जीवन-काल में कोई जान नहीं सका। हम क्या उन्हें जान पाते!

(४)

कल सायङ्काल उन्होंने बतलाया था—"मालती आज दोपहर को आयी है। इस बार वह अकेली है। तुमको मैंने बतलाया नहीं, वह मेरी, दूर के रिश्ते से, बहिन होती है। पगली, कहती है—चलो, योरप घूम आयें। मेरी इच्छा तो कुछ हुई कि चला जाऊँ। जीवन का क्या ठीक? किन्तु फिर कुछ सोच कर मैंने इनकार कर दिया। उसके स्वामी को क्या यह कभी सहन हो सकता है? समाज के प्रति विद्रोही बनना और बात है। पर यह तो सामाजिक धर्म के प्रति एक प्रकार का अनाचार हुआ न? मनुष्य को इतनी हिंसा कभी शोभा नहीं दे सकती!

'और भी कुछ बातें हैं। कौन जाने, तुमसे कहने का फिर कभी अवसर मिले—न मिले। इसलिए आज अपने जीवन की कुछ गुत्थियाँ तुम्हारे आगे खोल देना चाहता हूँ। "मालती

दुखिया है, बिहारी ! उसे स्वामी का प्रेम मिल नहीं सका। वह प्यासी है। जीवन के बिलकुल बीच जा पहुँची है, तो भी प्यासी है। ऐसी दशा में इस 'रिस्क' में कौन पड़े ?"

बातें करते-करते उनका कण्ठ रुद्ध हो उठा—नयन सजल। कोच पर बैठे थे। उठकर टहलने लगे। कई मिनट तक बोले नहीं। वे फूली फूली-सी लाल-लाल आँखें, वह आम्लान मुद्रा ! —अः मनुष्य इतना समवेदनशील प्राणी है !—मुझे अनुभव हुआ। किन्तु मैं घबरा गया। इतना भाव-निमज्जित मैंने उन्हें कभी नहीं देखा था।

थोड़ी देर तक चुपचाप आराम-कुर्सी पर अविकल अलस भाव से लेटे रहे। मैं उठकर खड़ा हो गया। इसलिए नहीं कि चला जाना चाहता था ; वरन् इसलिए कि मुझे एक नयी चीज़ किताबों के ऊपर अलमारी में रखी देख पड़ी। रद्दी कागज़ में लिपटी-सी। गया; अलमारी खोली। फिर बण्डल खोला, तो देखा—'काफी कीमती साड़ी है। जान पड़ता है, आज ही ले आये हैं।' फिर चुपचाप इस तरह रख दिया कि उनको मालूम तक न पड़े।

किन्तु उनके निकट गया, तो खुद ही बोले—"साड़ी ले आया हूँ और भी बहुत-सा सामान लाना है। आज उसकी पसन्द की सब चीजें उसे खरीद देना चाहता हूँ।'

जान पड़ता है, 'उसके पसन्द की सब चीजें,' अपने ही इस

वाक्यांश के मर्म में बैठकर, क्षण-भरको, हास-मुद्रित हो उठे थे। तभी तो बाद में बोले—चाहे जो कुछ दे दूँ, किन्तु उसके लिए यह सब है क्या चीज! असल चीज तो उसे मिल नहीं सकती। यह तो सब एक तरह की प्रवञ्चना है।···अच्छा बिहारी, अगर मैं आँखें मूँद लूं और किसी को न देखूँ तो? समाज, सभ्यता और धर्म—इन सबसे परे हो जाऊँ तो? जो नारी अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने को तत्पर हो, उससे भी कुछ छिपाया जाये? इसका तो मतलब यह हुआ कि मैं केवल ग्रहण कर सकता हूँ, अनुग्रहण नहीं कर सकता। केवल ले सकता हूँ, दे नहीं सकता!

इस प्रकार अपने ही प्रति चरम विमूढ़ता से भरकर अतिशय अपरूप हो उठे। उठकर ऊपर जाने लगे। मैंने कहा—मैं भी इस समय चलूँगा। एक जरूरी काम याद आ गया।

वे बोले—अच्छा, तो फिर कल मिलना।

मैं चला आया।

(५)

नौकर बतला रहा है—

'उन्हें रात को ही भेज आये थे। मैं भी साथ में था। वे लगातार रोती ही रहीं। किन्तु बाबूजी बराबर उन्हें समझाते रहे। इतना सामान दिया कि बुक कराने में बीस रुपये देने पड़े। तो भी कुछ यहीं छोड़ देना पड़ा। कपड़े, खिलौने, तस्वीरें, पुस्तकें—सब कुछ दे दिया और ज़बरदस्ती दिया। ग्यारह हज़ार रुपये का चेक दिया, सो अलग।'

उसी आराम-कुर्सी पर इतमीनान के साथ लेटे हुए हैं। आँखें खुली हैं। पान मुँह में भरा है। सेण्ट सिर के केशों में पड़ा लहरा रहा है। अधजला सिगरेट का टुकड़ा दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अँगुलियों में पड़ा है।

+ + +

किन्तु बैठक के द्वार पर काँच के टुकड़ों का ढेर यह कैसा लगा है। देखा, वह खाली बोतल भी उस स्थान पर नहीं है। तब जी में आया—ठीक तो है। पहले खाली पड़ी हुई थी—अब चूर-चूर हो गयी है।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब

उन दिनों एक युवक मेरे पास अकसर आ जाया करता था। सद्‌गृहस्थ और वृद्ध तो मेरे पास एक न एक बैठा ही रहता था। कभी-कभी कोई दुखिया नारी और विधवा भी आ जाती थी।

इन लोगों के आने का एक अर्थ था—संसार की विषमता, जीवन की अनिश्चितता और संघर्ष की निर्ममता से विह्वल होकर ये लोग मेरे पास शान्ति और धैर्य, संतोष और समाधान की टोह में आते थे। पर यह युवक क्यों आता है, यह मैं कई दिन तक तय नहीं कर पाया था। यद्यपि यह निश्चित था कि उस युवक को भी अपने जीवन से कुछ शिकायत है; कोई न कोई अभाव वह जरूर रखता है, किन्तु उस अभाव का प्रकार कैसा है, यही जान लेना मेरे लिए उस समय एक समस्या बन गई थी।

उस युवक की अवस्था अभी तीस वर्ष की थी। उसकी आँखें देखने में साधारण थीं, किन्तु मर्म को ग्रहण करने में यथेष्ट तीव्र थीं। उसका रँग सांवला था। वह कर्मठ इतना था कि काम

करते हुए कभी थकता नहीं था। मनोभावों और वस्तुस्थितियों के मर्म को हृदयङ्गम करने में उसे जरा भी देर न लगती। बहुधा लोग जिन सूक्ष्म भावनाओं और प्रतिद्वन्द्वों को अनुभव करने में चूक जाते हैं, उसकी दृष्टि में वे तत्काल आ जाती थीं। लेकिन उसके सम्बन्ध से मुझे ये अनुभव बहुत बाद को हुए।

अन्य लोग मेरे पास भविष्य-संबन्धी प्रश्नों की झड़ी लेकर आते थे। कदाचित् वे सोचते थे कि दार्शनिक होने का अर्थ है, ज्योतिषी होना। विशेष रूप से स्त्रियों को नाना प्रकार के प्रश्नोत्तरों से भी जब संतोष न होता, तो वे मुझे अपनी हस्त-रेखाएँ दिखलाने के लिए आतुर हो उठती थीं।

लेकिन उस युवक में ऐसी कोई आतुरता न थी। अपनी ओर से जैसे वह कुछ कहना नहीं चाहता था। जैसे वह अपने आपमें इतना पूर्ण है कि उसके मन में किसी प्राणी के लिए कोई शिकायत या उलाहना नहीं है। कम से कम मैं उसके संबन्ध में यही सोचता था और ऐसा सोचने का सबसे बड़ा कारण यह था कि वह मेरे पास जितनी देर बैठता, प्रायः मौन रहता। अन्य लोगों को देखते हुए उस युवक में यह विशेषता थी।

एक दिन मेरे मन में एक कुतूहल जागृत हुआ। इसलिए जब वह चलने लगा, तो मैंने उससे कह दिया—'कल जरा जल्दी आ जाना जनार्दन, कुछ जरूरी बातें करनी हैं।'

वह चला गया और लोग भी क्रम-क्रम से उठ गये। इस समय रात हो गई थी और समुद्र का बेड़ा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। मन में आया, छत पर थोड़ी देर टहला जाये। चाँदनी रात है, मजा आयेगा।

मैं छत पर जा ही रहा था कि इतने में नीचे से किसी के आने की पद-ध्वनि हुई। मैं पहली सीढ़ी पर ही रुक गया। किसी को पास आया जान जो मैंने पूछ दिया—कौन ? तो—'मैं हूँ जनार्दन।'—उत्तर पाकर मैं आश्चर्य-चकित हो उठा। मैंने तत्काल प्रश्न कर दिया—'क्यों, इतनी जल्दी कैसे लौट आये ?' वह बोला–'आपने कहा था न, कुछ जरूरी बातें करनी हैं। मैंने सोचा, जब बातें जरूरी हैं, तो उन्हें कल पर टालना ठीक नहीं है। इससे आपके कार्यक्रम में अगर कुछ फेर-फार हो जाय तो, आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे।'

मैंने कह दिया—'ऐसी कोई बात नहीं है। अच्छा हुआ, तुम कल के बजाय आज ही आ गये। आओ चलो, ऊपर बैठकर बातें की जायँ।' और फिर उस खुली छत पर शीतलपाटी बिछाकर हम लोग बैठ गये। बातें होने लगीं।

(२)

मेरा प्रश्न था—'आप मेरे पास किसी प्रयोजन से आते हैं, यह आप मानते हैं या नहीं ?'

उसने उत्तर दिया—'मानता हूँ।'

'तो फिर उसके सम्बन्ध में इतने दिन से मौन रहने का क्या अर्थ है ?'

'अहंकार। क्योंकि अपनी बात को अन्य लोगों के सामने कह डालने में मेरे स्वभावगत स्वाभिमान को ठेस लगने की संभावना थी। आपने मेरी स्थिति जानकर मुझे एकान्त में कुछ कहने का जो अवसर दिया है, इसके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूँ।'

'अब इस शिष्टाचार को बन्द करो मित्र! जो कुछ कहना हो, निस्संकोच कह डालो।'

तब वह बोला—'मैं सिर्फ यह जानना चाहता हूँ कि सत्य को आप प्रेम से बड़ा मानते हैं या हीन ?'

प्रश्न से ही मैं जान गया, यह व्यक्ति सत्य और प्रेम के बीच में एक लकीर खींचे बैठा है। इसलिए मैंने स्पष्ट रूप से कह दिया—'न बड़ा मानता हूँ न छोटा। मैं तो दोनों को एक ही स्थिति के दो रूप मानता हूँ। अर्थात् प्रेम सत्य है और सत्य प्रेम।'

वह बोला—'ऐसा कैसे हो सकता है। आप जानते हैं, सत्य कितना कटु होता है! और प्रेम ?—प्रेम से मधुर वस्तु संसार में कौन है ?'

मेरा उत्तर था—प्रेम भी कटु होता है मित्र! शतशत बिच्छू काट लेने पर जैसा दर्द होता है, प्रेम का दर्द उससे भी भयानक

होता है। सत्य कितना निर्मम होता है, यह आप मानते ही हैं। पर प्रेम की निर्ममता भी उससे कम नहीं होती?

[३]

तब उसने एक कथा सुनाई—

'दिवाकर के घर में पाँच मोटरें थीं! दस लाख की संपत्ति से शहर में कई दुकानें ठाठ से चल रही थीं। पिता का स्वर्गवास हो चुका था। चाचाजी सारा कारोबार सम्हालते थे। दिवाकर इण्टर से शिक्षा का सम्बन्ध छोड़ चुका था। अब संगीत कला के आराधन में उसका अधिकांश समय व्यतीत होता था। सार्वजनिक उत्सवों और संगीत तथा नाटकीय आयोजनों में एक प्रतिभाशाली कलाकार की भाँति उसकी प्रतिष्ठा होती थी। जीवन में जितने सुख-सौभाग्य के साधन संभव थे, सब उसे प्राप्त थे। अगर किसी प्रकार की कमी उसके जीवन में थी, तो केवल इतनी कि अभी तक उसने अपना विवाह नहीं किया था, और इसका प्रमुख कारण यह था कि वह अनुपम सुन्दरी के साथ विवाह करना चाहता था। चाचाजी के द्वारा अक्सर ऐसे प्रस्ताव भी आये, जब उसे विवाह के लिए अपना साथी देखने और चुनने को विवश होना पड़ा। तीन-चार बार उसे ऐसी शिक्षित और योग्य युवतियों से मिलाया भी गया, जो उसके लिये सर्वथा उपयुक्त थीं, परन्तु अपनी असाधारण महत्वाकांक्षा के कारण उसने उन

सबको अपने लिए अयोग्य ठहरा दिया। चाचाजी असंतुष्ट हो उठे, उसे एक दिन उनसे यह स्पष्ट कह देना पड़ा कि अब इसकी जिम्मेदारी आप मेरे ही ऊपर छोड़ दीजिये। योग्यतम जीवन-साथी मिल जाने पर वह स्वयं आपको बतला देगा। आप इस विषय में चिन्ता न करें।

चाचाजी के कोई सन्तान न थी और पिताजी के दिवंगत हो जाने पर भी वे पिता का-सा स्नेह ही उससे रखते थे। एक दिन तो उन्होंने आँखों में आँसू भर कर यहाँ तक कह डाला था कि अगर मेरे सामने तेरा विवाह न हुआ तो मर जाने पर मेरी आत्मा अशान्त एवं असंतुष्ट रह जायगी।

दिवाकर चाचाजी की आकांक्षा पूरी करना चाहता था। लेकिन वह अपनी महत्वाकांक्षा पर दृढ़ था। वह सोचता था, विवाह मेरा होगा, चाचाजी का नहीं। जीवन भर का सम्बन्ध मेरा स्थापित होगा, चाचाजी तो मेरे सुख से सुखी होंगे। उसने यहां तक सोच लिया था कि उपयुक्त साथी मिलने में अगर इतनी देर भी लग जाय कि चाचाजी अपने जीवन काल में मेरा विवाह न कर पायें, तो भी कोई चिंता की बात नहीं है। माता-पिता जीवन भर साथ नहीं दिया करते। लेकिन भगवान् की रचना को इस सीमा तक जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। थोड़े दिनों में ऐसा अवसर आ गया। क्षण भर में दिवाकर ने तय कर लिया कि अमुक को अपना जीवन-साथी बनाना है।

दिवाकर अपनी होज़िरी की दूकान पर बैठा हुआ एक गीत गुनगुना रहा था—

'तेरी बावरी अँखियां, क्या जाने !'

उसी समय एक मृगनयनी उसकी दूकान पर आ पहुँची।

दिवाकर में साहस की कमी नहीं थी और वह मानव-सृष्टि के इतिहास के उन अनन्त उदाहरणों से परिचित था, जब पुरुष ने केवल साहस और वीरता के नाम पर अपने से शत-शत गुनी पद-मर्यादा वाली सुन्दरियों के हृदय पर विजय प्राप्त की है। क्षण भर में उसने सोच लिया कि उसके प्रयास का अधिक-से-अधिक प्रतिकूल परिणाम क्या हो सकता है ! और उस अनंग-लता के गुलाबी चरण अभी दूकान के भीतर आ ही रहे थे कि उसने तुरन्त कह डाला—

बहुत दिनों बाद मिली हो रानी ! आओ, बैठो, कहो, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ ?'

युवती भूल गई कि वह क्या खरीदने आई है। दूकान के कर्मचारी हैरान हो उठे कि आज छोटे बाबू को हो क्या गया, जो किसी संभ्रान्त परिवार की सुन्दरी से वे ऐसी बातें कह बैठे।

युवती ने अपने इधर-उधर देखा। यह देखने के लिए कि किसी दूसरी स्त्री से तो यह बात नहीं कही गई। पर उसे कोई और युवती वहां नहीं दीख पड़ी। तब, उसकी भृकुटियां तन

गईं, होंठ फड़क उठे और वह तत्काल बोली—'आप यह क्या बक रहे हैं।'

दिवाकर ने उग्र स्वर में उत्तर दिया-'मैंने आपसे कुछ नहीं कहा। मैं तो अपनी कल्पना से कह रहा था। लेकिन क्या मेरी बात इतनी बुरी है कि किसी कल्पना के लिए भी आप उसे सुनना सहन नहीं कर सकतीं?'

युवती दिवाकर की इस बात को सुनकर हैरान हो उठी। वह बोली—

'आप शायद पागल हो गये हैं। सेठ जी को चाहिये कि आपके दिमाग़ की दवा करें।'

और इतना कहकर वह दूसरी ओर मुड़कर माल दिखाने वाले व्यक्ति के पास जाकर कहने लगी-'दो शीशी 'हैज़लीन स्नो' दे दीजिये।'

दिवाकर नौकर के पास जाकर बोला-'हैज़लीन स्नो' ही क्यों, अपनी दूकान में जितनी तरह के शृंगार की चीजें—क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक, सोप-सेंट, नेल पालिश और क्लिप्स हों, सब बढ़िया से बढ़िया, छांटकर आप को दे दो। बिल का रुपया मेरे नाम नोट कर लेना।'

नौकर फिर दिवाकर की ओर आश्चर्य से ताकने लगा। और वह युवती बोली—'आप मेरा अपमान कर रहे हैं। और अगर आपने मुझसे क्षमा न मांगी, तो आपको अदालत के

सामने अपनी इस नाजायज़ हरकत के लिये शर्मिंदा तो होना ही पड़ेगा; मुमकिन है, कुछ दिनों के लिये जेलकी हवा भी खानी पड़े !'

दिवाकर पर इस कथन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, यद्यपि युवती की उत्तेजना इतनी ज्यादा बढ़ गई थी कि उसके गुलाबी कपोल बिलकुल लाल हो गये थे।

दिवाकर यकायक हँस पड़ा—बोला—'खूब! मैं, और अपमान करूँगा ! सो भी और किसी का नहीं, सौन्दर्य की रानी का। वाह री दुनियाँ ! लेकिन इतना तो निश्चित है कि अपनी इस पवित्र भेंट के लिये अगर मुझे जेल की भी हवा खानी पड़े, तो आपको जो प्रसन्नता होगी, उससे मेरा जेल-जीवन अतीव सुख-शांतिमय बन जायगा। क्या इतना संतोष मेरे लिए कम सुखद होगा कि मैंने अपनी कल्पना की रानी को प्रसन्न करने के लिए कुछ त्याग तो किया।'

युवती ने रामगोपाल से पूछा—'क्या सचमुच इन बाबू साहब का दिमाग़ कुछ फिर गया है ?'

रामगोपाल ने एक बार दिवाकर की ओर देखा, एक बार उस युवती की ओर, कोई जवाब न देकर अपना सिर नीचा कर लिया !

[४]

मेरा मन कह रहा था कि दिवाकर जरूर पागल हो गया था।

पर मेरी दृष्टि उस समय समुद्र की अनन्त जल-राशी पर जा पड़ी। एक ओर चन्द्रमा उस पर श्वेत रश्मियाँ डालकर उज्जवल हास बिखेर रहा है, दूसरी ओर यह महासागर पागल हो गया है। प्रकृति शांत हैं, तट तन्द्रा-लीन और समुद्र अपनी उत्ताल तरङ्गों से उसपर आक्रमण कर रहा है। लेकिन दिवाकर और समुद्र! नहीं, नहीं! दिवाकर चेतन प्राणी है और समद्र जड़। लेकिन कौन कह सकता है कि समुद्र जड़ है। तब मैंने कह दिया—"देखते हो दिवाकर, समद्र कितना सवाक, कितना नियमित और कितना गहन है। तो भी वह जड़ है। लेकिन यह जड़ता भी क्या चेतनता को कोई चुनौती नहीं देती?"

युवक बोला—'क्यों नहीं देती! अगर जड़ होकर कोई व्यक्ति इतना महान् बन सके तो मैं तो उसकी पूजा करूँ! लेकिन आप विषयान्तर कर रहे हैं।"

मैंने कह दिया—'अच्छा हाँ, कहो।"

युवक बोला—'युवती चली गई। इसके बाद उसके चाचाजी आ गये और दिवाकर फिर अपने खोखले जीवन में डूब गया। यों वह नित्य दूकान पर नहीं जाता था। पर उस दिन से नियम से जाने लगा। वह दूकान में कोई काम नहीं करता था। कभी किसी एक दरवाजे पर खड़ा होता, कभी दूसरे पर। लेकिन वह ज्यादा देर तक खड़ा भी न रहता।

इसी प्रकार लगकर घड़ी आध घड़ी दूकान में बैठा रहना भी उससे सहन न होता। कभी वह एक कुरसी पर बैठता कभी दूसरी पर। नौकरों से ज्यादा बातें करना भी उसे प्रिय न था, लेकिन इतना जरूर होता कि अगर उससे कभी कोई प्रश्न करता तो वह उसका जवाब जरूर दे देता था।

हाँ, एक बात अब उसमें नई पैदा हो गई थी—वह जब दूकान में आता तो कैशियर से प्रायः इतना अवश्य पूछ लेता कि कोई मुझसे मिलने तो नहीं आया था कैशियर को पहले तो कुछ दिनों तक बड़ा कुतूहल रहा कि आखिर दिवाकर यह बात उससे क्यों पूछता है? जब कोई उससे मिलने के लिए आने वाला ही नहीं है, तब बेकार उसकी प्रतीक्षा क्यों? किन्तु रामगोपाल ने एक दिन कैशियर को उस दिन की घटना का समाचार जो बतला दिया, तो कैशियर समझ गया कि हो न हो, छोटे बाबू उसी युवती की प्रतीक्षा करते हैं। तब अकसर ऐसा भी होने लगा कि जब दिवाकर किसी के आने की बात पूछता; तो कैशियर उसकी ओर सहानुभूति से देखने लगता और दिवाकर उसकी उस दृष्टि से ही समझ जाता कि वह सिर्फ संकोच के कारण मुंह नहीं खोल रहा है। अगर कहना चाहे तो कह सकता है कि और कोई तुमसे मिलने के लिए भले ही आ जाय, पर कल्पना की रानी के आने की कोई आशा नहीं है।

धीरे-धीरे पन्द्रह वर्ष बीत गये। दिवाकर के चाचा का

देहान्त हो चुका था; लेकिन वह दूकान ज्यों की त्यों चल रही थी। कैशियर अब बुड्ढा हो गया था। दिवाकर उसी क्रम से अब भी बराबर आता था। कभी-कभी वह कैशियर से अब भी यही प्रश्न कर देता कि 'कोई मुझसे मिलने को आया तो नहीं था।' कैशियर उसे जवाब देता—'नहीं'। पर वह जवाब के क्षण दिवाकर की ओर देखता नहीं उसे प्रायः दिवाकर के ऊपर दया हो आती है। वह जानता है इसका सपना कभी पूरा नहीं होगा। उसकी कल्पना की रानी उससे मिलने कभी नहीं आयेगी। कुछ दिनों बाद दिवाकर ने उससे यह प्रश्न करना भी छोड़ दिया। दिवाकर के केश अब सफ़ेद हो चले थे। मुंह पर कुछ झुर्रियाँ आ गई थीं। दो दांत भी गिर चुके थे। लेकिन उसने विवाह अभी तक नहीं किया था।

❀ ❀ ❀

शिमले की बारिश देखने का मौक़ा आपको भला क्यों लगा होगा! बस इतना समझ लीजिये कि तूफान के साथ वर्षा और शीत एक साथ उमड़ पड़ती है। अक्टूबर का महीना। कँप-कँपी आते देर लगती है! पानी बरसना कुछ बन्द हुआ ही था। रात के ९ बजे होंगे कि रिक्शे में से उतरकर एक रमणी उस दूकान के भीतर आ पहुंची। दिवाकर सिगरेट सुलगा रहा था, कैशियर अपना हिसाब मिला रहा था। दूकान है तो नित्य अनेक स्त्री-पुरुष आते ही रहते हैं। दिवाकर को प्रतीत हुआ कि कोई

रमणी आई और कोई चीज़ खरीदने लगी। दिवाकर ने उधर ध्यान नहीं दिया। लेकिन रमणी किसी को खोजती हुई सी दिवाकर के ही सामने आकर खड़ी हो गई। एक बार उसने बुड्ढे कैशियर की ओर देखा, और एक बार नौकर रामगोपाल को। फिर वह दिवाकर से ही धीरे से कहने लगी—'मुझे आप से कुछ काम है। जरा उधर एकान्त में आकर सुन लीजिये।'

दिवाकर उसको प्राइवेट रूम में ले गया। रमणी पास ही बैठ गई। दिवाकर ने टेबिल में लगे स्विच को दो बार दबा दिया। रमणी ने कुरसी पर बैठते ही पूछा—'आपने मुझे पहचाना?'

अन्यमनस्क दिवाकर बोला—'नहीं, मैं अब कल्पना से बहुत दूर जा खड़ा हूँ। फिर भी कहिए मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'

रमणी का मुख कुछ गम्भीर हो गया। निचला होंठ कुछ काँप उठा। फिर भी साहस करके उसने दूसरा प्रश्न किया—'बहुत दिनों से किसी आयोजन में आपका कोई गीत भी सुनने को नहीं मिला।'

एक ठण्डी सांस को जैसे भीतर ही भीतर मसोसता हुआ दिवाकर बोला—'हाँ, अब मैं यह पागलपन छोड़ चुका हूँ। पर मेरे व्यक्तिगत जीवन से आपका क्या सम्बन्ध है? क्यों आप ऐसे प्रश्न कर रही हैं? दिवाकर के प्रश्न का उत्तर न देकर रमणी बोली—'मैंने सुना, आपने विवाह भी नहीं किया!'

दिवाकर ने जैसे अश्रु-विगलित स्वर में कह दिया—'हाँ, नहीं किया। आपको यह सब किसने बतलाया? और इन बातों से आपका नाता क्या है? फिर जो सम्भावनाएँ बीत चुकीं, उनकी चर्चा करने से फ़ायदा!'

इसी समय ब्वॉय चाय का ट्रे ले आया। रमणी की आँखों में आँसू छलक आये। बोली—'कल्पना के राजा को ऐसा कहना शोभा नहीं देता।'

मेरा मन उतावला हो उठा। और मैंने कह दिया इसके बाद कथा का अन्त स्पष्ट हो जाता है। आप यही कहेंगे कि दिवाकर टकटकी लगाकर उसे देखता रह गया। प्रसन्नता से पागल होकर उसने उस रमणी को हृदय से लगा लिया।'

युवक बोला—'नहीं। कहानी के अन्त के लिए चाहे यह सत्य हो, लेकिन जीवन के सत्य के लिए वह सत्य नहीं हुआ। रमणी बोली 'बारह वर्ष की नज़रबन्दी और उसके बाद फिर अपराध—भयंकर अपराध। मैं सिर्फ इतना कहने आई हूँ कि मेरी कल्पना का राजा कार्य पर विश्वास करे; कोरी कल्पना पर नहीं। और इसके बाद—'

इसके बाद उस प्राईवेट रूम के किवाड़ भी फटाफट खुल गये। रिवाल्वरधारी पुलिस ऑफिसर ने अन्दर आकर कह दिया—'चलो मिस चौधरी। अब हम ज्यादा नहीं ठहर सकते।'

रमणी तुरन्त उठकर चलदी।

इसी क्षण मैंने पूछ लिया—'फिर चलते समय उसने कुछ नहीं कहा।'

युवक बोला—'कहा क्यों नहीं। कहा—मैं चाहती थी तुम एक बार फिर उसी तरह मुझसे कह देते,—'बहुत दिनों बाद मिली हो रानी।'

इसके बाद वह रमणी तो चली गई लेकिन दिवाकर पागल हो गया। बोला—और वही पागल आज आपसे दीक्षा लेने आया है!

स्वयंवर

(१)

रात के नौ बजे हैं। सरदी के दिन हैं और हवा कुछ तेज़ चल रही है। एक ताँगा स्टेशन की ओर तेजी के साथ चला जा रहा है। उस ताँगे पर दो प्राणी बैठे हैं। एक शकुन्तला है, नगर के गवर्नमेंट इंटरमीजिएट कालेज के प्रिंसिपल मि० मेहरोत्रा की बड़ी लड़की। दूसरा राजीवलोचन कपूर बी० ए० फाइनल छोड़ कर देश-कार्य में संलग्न रहने वाला एक पिता-हीन युवक।

राजीव बार-बार शकुन्तला से अनुरोध करता जाता है—अब तुम लौट जाओ शकुन! मैं नहीं चाहता कि बंगले पर तुम इतनी देर से पहुँचो कि बाबूजी को तुम्हारे लिये चिन्ता हो उठे। मैं तो अब जा ही रहा हूँ।

लेकिन शकुन्तला का हृदय उसके वश में नहीं है। नाना प्रकार की कल्पनायें उसके मन में उठतीं और विलीन हो जाती हैं। "ये पिता, ये माता जी; ये कुटुम्बी और इष्ट-मित्र मेरे कौन

हैं, यदि मेरे अन्तःकरण के स्वर को, अपने अधिकार और उत्पीड़न से, तिरस्कार और दुराग्रह से, सदा के लिये प्रशान्त बना डालना चाहते हैं। यदि मैं आज राजीव के साथ दो-चार दिन के लिये बम्बई चली जाऊँ तो इनका क्या बिगड़ जायगा हूँ! समाज रसातल को चला जायगा! सभ्यता और संस्कृति की नाक पर मक्खी बैठ जायगी! और फिर वही मक्खी ऐसी महामारी फैलायगी कि हमारी सारी सामाजिक प्रतिष्ठा महानाश के पैशाचिक पेट में समा जायगी!– क्या है वह सामाजिक प्रतिष्ठा? क्या है वह संस्कृति और सभ्यता, जो मानवता को मंदाकिनी के कूल-कदम्ब में पल्लव-दोलन को भी सहन नहीं कर सकती! सड़ गई है यह सभ्यता, बदबू फूट पड़ी हैं इसमें! इसका नाश निश्चित है!

और इसी कारण गुरु गम्भीर राजीव बोल उठा—"तुम्हें मेरे सिर की कसम है शकुन, तुम अब लौट जाओ" शकुन्तला का हृदय एक बार फिर हिल गया। बोली—"थोड़ी देर की तो बात है। स्टेशन से बिदा करके लौट जाऊँगी। बहुत होगा–बाबू जी खुद दौड़ आयेंगे! इससे अधिक तो कुछ और हो नहीं सकता!" तब राजीव बोल उठा—"मैं यह सब भी पसन्द नहीं करता! इतनी धृष्टता मैं नारी जाति के लिये शोभन नहीं मानता।" सुनकर शकुन्तला थोड़ी मुस्कराई; थोड़ी सलोनी बन उठी और थोड़ा अग्रसर होकर कहने लगी"तुम्हारी भली

चलाई ! मुँह पर राम—बगल में ईंटें ! तुम तो एक दिन मुझे भी पसन्द नहीं करते थे न ! घर में मेरा आना तुम्हें बिलकुल अच्छा नहीं लगता था ! छलिया कहीं के !—कहते नहीं, कहलाना चाहते हो !" —"जाने दो इन बातों को !" राजीव जैसे अधीर होकर फूट पड़ा हो—"भूल जाओ इन घटनाओं को। जीवन एक ऐसा गहन कान्तार है, जिसमें इस प्रकार की छोटी-मोटी सम्भावनायें उतना भी महत्व नहीं रखतीं, जितना एक तृण का होता है। चिर मिलन से पूर्व कहीं कुछ नहीं है। वे आशायें मिथ्या हैं, जो अपूर्व और आधारहीन हैं। वे कल्पनायें भी मिथ्या हैं, जो अचानक किसी संयोग से बनी हैं। यदि वे सत्य निकलती हैं, तो मानवी पुरुषार्थ को कोई गौरव नहीं देतीं और यदि असत्य निकलती हैं तो भी मनुष्य के विकास-क्रम में कहीं कोई विराम नहीं डाल सकतीं। समझीं ? इसी में कहता हूं—जाओ, देखो, यह हिवेट रोड का चौराहा आ गया।"

इस पर शकुन्तला पहले मौन हो रही। लेकिन ज्योंही राजीव ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कह दिया, "बस अब जाओ। ज़रा खड़ा करना ताँगा।"

ताँगा रुक गया। शकुन्तला उतर पड़ी। नमस्ते की उसने। दोनों ने एक दूसरे को एक बार नयनों से देखा, कल्पना से गले लगाया और विदा ली।

शकुन्तला एक ताँगा लेकर चल पड़ी टैगोर टाउन का

और—और राजीव का ताँगा तो स्टेशन की ओर जा ही रहा था।

(२)

शकुन्तला जब बंगले में पहुँची, तो मि० मेहरोत्रा बाहरी बरामदे में आराम-कुर्सी पर लेटे हुए सिगरेट का अन्तिम कश ले रहे थे।

शकुन्तला पोर्टिको पार करके बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़कर ज्यों ही अन्दर जाने लगी, त्योंही सिगरेट की आखिरी टुकड़ी ऐश-ट्रे में कुचते हुए मि० मेहरोत्रा ने पूछा—"कहाँ से आ रही हो ?"

एक बार शकुन्तला के मन में आया, कह दे—"पुष्पा के यहाँ से।" एक बार उसने यह भी सोचा, कह दे—"फ़्लो देखकर आ रही हूँ मोती-महल से।" लेकिन परिणाम सोचे बिना उसने साफ ही साफ कह दिया—"राजीव बम्बई जा रहा है। उसे see off करने गई थी; लेकिन उसने यह कह कर बीच से ही लौटा दिया कि देर हो जाने से बाबू जी तुम पर बिगड़ न उठें !"

कल संयोग से राजीव को बंगले से जाता देखकर इन मेहरोत्रा साहब को ताव आ गया था। आपने फरमाया था—"जान पड़ता है, सिवा इधर-उधर घूमने के आजकल तुमको कोई काम नहीं रह गया है !"

अत-एव मि० मेहरोत्रा ने सिर हिला कर कह दिया —"हूँ।" और शकुन्तला ने अन्दर क़दम रखते हुए अनुभव किया—इस "हूँ" मात्र में उनके अहम् की तुष्टि का स्वर आ गया है। वह अन्दर जाने लगी, तो मि० मेहरोत्रा बोल उठे—"तो इसका मतलब यह हुआ कि मेरा इतना समझाना-बुझाना बेकार है, मैं पूछता हूँ क्या तेरी बुद्धि पर पत्थर पड़ गया है, जो तू अपना भला-बुरा तक नहीं सोच सकती ?"

शकुन्तला अन्दर की ओर मुँह किये चुपचाप खड़ी रही। हिली-डुली तक नहीं। और मि० मेहरोत्रा बराबर कहते ही चले गये—"मित्रता की जाती है मान-मर्यादा में अपने से उच्च व्यक्ति के साथ ! और तू जानबूझ कर अपने पैरों में कुल्हाड़ा मारने पर तुल गई है !"

एक आह को दबाती हुई शकुन्तला अब भी स्थिर बनी रही। और मि० मेहरोत्रा, जो अबतक कुछ धीरे-धीरे बोल रहे थे, अब यकायक चीख उठे। बोले—"मैं पूछता हूँ, क्या है उसके घर में ? किराये के मकान में रहना और सौ-पचास की नौकरी के लिये इधर-उधर टटपुंजिया लीडरों के दरवाजों पर चक्कर काटना !—'हूँ': बम्बई जा रहा है ! मैं कहता हूँ, वह लन्दन चला जाय, लेकिन इस जीवन में कभी खुशहाल नहीं होने का। अगर मुझे तेरी इस बेवकूफी का पहले से पता होता, तो मैं

तुम्हें बी० ए० तो क्या, मैट्रिक भी नहीं करने देता !" मि० मेहरोत्रा बकते ही जा रहे थे; किन्तु......

दांत पीसती, भीतर-ही-भीतर ब्यॉयलर से जलते हृदय को थामकर शकुन्तला अन्दर चली गई। और फिर पीछे की खिड़की से सड़क पर आकर इधर-उधर देखने लगी! मालवीय रोड के 'अथ' वाली पुलिया के पास एक ताँगा खड़ा मालूम हुआ। फिर एक कुत्ता भौंकने लगा, फिर वही ताँगा इसी ओर चल पड़ा। यह आया, यह......

इसी क्षण श्री गोविन्द खन्ना आ गये और आते ही उन्होंने मि० मेहरोत्रा से कह दिया—"मि० मालवीय के यहाँ से आ रहा हूँ।"

बड़ी उत्सुकता से मि० मेहरोत्रा बोले—"अच्छा ! कहो, क्या समाचार लाये ?"

अपने बड़े चिरंजीव श्री कान्त को रेडियो पर एक ढाई सौ की पोस्ट दिलाने के फेर में उन्होंने इन खन्ना साहब को नियुक्त कर रक्खा है। उनके कालेज में ये नागरिक शास्त्र के अध्यापक हैं।

खन्ना बोले—"सारी कोशिश बेकार साबित हुई। उस जगह पर कोई ऐसा व्यक्ति नियुक्त किया जा रहा है, जो बी० ए० भी नहीं है। हाँ, सन् ४२ के तोड़-फोड़ आन्दोलन में अपने बायें हाथ पर गोली जरूर खा चुका है। जेल में भी रहा है सात-डेढ़ साल।"

मि० मेहरोत्रा सुन कर अवाक् रह गये। विस्मय और क्षोभ से उनके मस्तिष्क की नसें तन गईं। सिर उनका हिला और एक शब्द भी फूट पड़ा—'हूँ'। फिर तुरन्त उठे और अन्दर जाते हुए बोले—"जरा पता लगाना, नियुक्ति का पत्र क्या उसे भेज दिया गया ?"

फिर अन्दर आते ही इधर-उधर सभी कमरों में एक चक्कर लगा आये। जब शकुन्तला कहीं न दिखाई पड़ी, तो सुहागी (नौकरानी) से पूछ बैठे—"शकुन्तला कहाँ गई ?" सुहागी बोली—"अभी यहीं तो थी बाबू जी !"

क्षण भर में बंगले के अन्दर कोहराम मच गया।—"शकुन्तला का पता नहीं है !–ऐ माली, तूने शकुन्तला को तो नहीं देखा !" "मैंने नहीं देखा, सरकार ! कहाँ गई कम्बख्त—इस बार मिल भर जाय, मैं उसे गोली मार दूँगा।"

शकुन्तला अब मातृहीन है। द्रौपदी नाम की मौसी ही गृहिणी का कार्य-भार सम्हालती हैं। वे बचपन में विधवा हो गई थीं, तब से प्रिंसिपल साहब के आन्तरिक आग्रह से उनके परिवार की मुख्याधिष्ठात्री का उत्तरदायित्व ग्रहण किये हुए हैं। जीवन में अर्धांगिनी का जो स्थान होता है, उन्हें भले ही न प्राप्त हो, किन्तु मि० मेहरोत्रा के मन में उनका जो स्थान है, उसे वे थोड़ा-बहुत समझती आ रही हैं।

सो, वे तत्काल बोल उठीं—"और तुमसे क्या बनेगा !

समाज के सामने मुंह दिखलाने की जो थोड़ी बहुत शक्ति मुझमें है भी, तुम उसे भी नष्ट किये बिना न मानोगे! मैं पहले ही कहती थी—इसे ज्यादा अंगरेजी मत पढ़ाओ, लेकिन मेरी सुनता कौन है!" और जब सुहागी हाँपती हुई सामने आकर बोली—"पुष्पा के घर पर भी नहीं मिली बीबी। अब मैं क्या करूँ! कहाँ ढूँढूँ?" तो द्रौपदी मौसी चीख उठीं—"मेरे कान में, और मैं कहाँ बताऊं? उन्हीं से जाकर क्यों नहीं कहतीं कि उनकी प्यारी दुलारी ने जो 'जग्य' की है, कम-से-कम पुलिस को तो फ़ोन से उसकी सूचना दे दें।"

इसी क्षण पलटू मोटर गैरेज से कार निकाल कर पोर्टिको में ले आया। मि० मेहरोत्रा उस पर खुद बैठ कर बंगले से बाहर जाने लगे। बायें हाथ की कलाई पर न्यू माडल सेकंडस बँधी थी। देखो, ट्रेन छूटने में अब भी बीस मिनट बाक़ी हैं। कार जा रही है—यह पहले लाउदर रोड था। अब तो खैर... ...! मस्तिष्क पर तनाव आ रहा है—"हूँ जेल जाना और चूतड़ों पर बेत खाना भी कोई एज्युकेशनल क्वालिफिकेशन है!"

"नहीं साहब, ऐसी क्या बात है! गोरे डी० पी० आई० के तलवे सेहराने से अगर कोई शख्स, दूसरों का चाँस मार कर, पहले गवर्नमेंट-हाई-स्कूल का आर्डिनरी सेकंड मास्टर रहे, और अन्त में उसी इंटरकालेज का प्रिंसिपल हो जाय, तो यह पूछनेवाला कौन है कि कितने वर्षों में काँख-कूँख कर हजरत ने

बी० ए० किया था ! "....यह रहा हिन्दू-बोर्डिंग ।...मैं न जानता था, जमाना इतनी जल्दी बदल जायगा !......वैसे ढाई सौ वाली पोस्ट ऐसी कुछ बुरी भी नहीं है। मैंने तो सवा सौ से शुरू किया था ! लेकिन कपूर यदि पाँच सौ से भी शुरू करे, तो भी वह शकुन्तला के लिये सर्वथा अयोग्य है। हाँ, बी० ए० कर लेता और इस लीडरी-वीडरी के चक्कर में न पड़ता तो...! हाँ, तब बात और थी।...यह आया कानपुर रोड।......इस शकुन्तला ने नाक में दम कर रक्खा है। पता नहीं कम्बख्त कहाँ मरने गई है! यह भी हो सकता है कि वह मुझसे रूठ कर ...नहीं नहीं, मैंने ऐसी कोई ज़्यादा सख्त बात तो उससे कही न थी ! फिर भी...फिर भी....!

........लेक्चरबाज़ी की दिमाग़ी खुजली शांत करने के लिये जो जेल की सज़ा काट सकते हैं, वे क्या नहीं कर सकते। शकुन्तला पहले मेरी कितनी आज्ञाकारिणी थी ! कपूर ने अपनी लेक्चरबाज़ी से ही उस पर जादू कर दिया है। देखता हूँ आज अगर शकुन्तला न मिली, तो...।......यह आया चर्च ! और वह स्टेशन !

क़ायदे से गाड़ी छूटने में सिर्फ दो मिनट रह गये थे। तेज़ी के साथ अन्दर गये। मालूम हुआ बाम्बे मेल अभी अभी आया है। थोड़ी तसल्ली हुई। प्लेट फार्म नं० १ पर काफी भीड़ थी। मि० मेहरोत्रा तीसरे दरजे का हरएक कम्पार्टमेंट

सेकंडों में देख-देखकर आगे बढ़ रहे थे। यकायक किसी ने पीछे से सामने आकर उनका चरण स्पर्श कर लिया। तब पहले तो उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य से उधर देखा, फिर एक आशीर्वाद स्वभावतः उनके मुँह से निकल गया—"खुश रहो!" फिर जब उसने सिर उठाया, तो मि० मेहरोत्रा देखकर चौंक पड़े। कुछ हाँपते हुए से बोले—"ओः तुम! मैं तुम्हीं को खोज रहा था, इस वक्त शकुन्तला तो नहीं आई?"

वास्तव में मेहरोत्रा का दम घुट रहा था! कहीं कपूर यह न कह दे कि यहाँ तो नहीं आई!

लेकिन कपूर ने अतिशय विनीत होकर उत्तर दिया—"वह खड़ी-खड़ी रो रही है! आप जानते हैं, मेरा तो कोई ऐसा अपराध है नहीं, जिसके लिये मैं......। मैं तो आपके आदेशानुसार ही बम्बई प्रस्थान कर रहा हूँ!"

और तब तत्काल मि० मेहरोत्रा बोले—"यह सब कुछ नहीं होगा। तुम बम्बई नहीं जा सकोगे। तुमको लखनऊ-रेडियो वाली वह पोस्ट दिलाने के लिये मैं कोई बात न उठा रखूँगा! समझे? झटपट सामान उतरवा लो? जल्दी करो।"

राजीव सुनकर स्तब्ध हो उठा। —"आखिर इन्हें कैसे पता चला कि मैं इस पोस्ट के लिए कोशिश कर रहा था और ये मुझे यह पोस्ट दिलवाकर छोड़ेंगे, इस कृपा की उत्पत्ति का कारण?"

फिर भी राजीव कुली से सामान उतरवा रहा था। उधर शकुन्तला पिता के वक्ष से लगी आँसू पोंछ रही थी और मि० मेहरोत्रा उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कह रहे थे—"मैं तुम पर नाराज़ नहीं हूँ बेटी ! ऐसा तो जीवन में अकसर होता है !

और—सामान जब कुली के सिर पर रक्खा जा रहा था, तभी अनायास उन्होंने यह भी देखा कि राजीव के सूटकेस के साथ एक ट्रंक शकुन्तला का भी है !

जहाँ सभ्यता सांस लेती है।

सरदी के दिन थे और रात के ग्यारह बजे। एक कमरे में श्रीमान् किशोरीलाल और उनकी द्वितीय पत्नी लेटी हुई थीं। इसी कमरे में पार्टीशन डाल कर दो भाग कर लिये गये थे, और उसी दूसरे भाग में प्रथम विवाह से उत्पन्न उनकी लड़की नर्मदा लेटी हुई सो रही थी। सो तो क्या रही थी, वास्तव में करवटें बदल रही थी। योरुप के सामाजिक इतिहास पर एक पुस्तक का अवलोकन करती-करती वह यकायक लेट गयी थी और अभी बिजली की बत्ती बुझाये हुए उसे आधा घँटा ही बीता था। लिहाफ़ से उसका शरीर ढँका हुआ था। एक तकिया पतला और एक कुछ मोटा उसके सिर के नीचे रक्खा हुआ था और एक गोल (तकिया) साटन के चिकने रेशमी कवर का उसके पैरों—बल्कि उसकी दक्षिणी जानु से टिका हुआ पड़ा था।

यकायक नर्मदा के कानों में कुछ ऐसे स्वर आने लगे जो उसके लिये सर्वथा नवीन थे। तब उसने कुछ सोचकर झट से गोल तकिया तो अपने दूसरी ओर रख लिया और करवट

बदल ली। लिहाफ़ से उसने अपने सारे शरीर को पूर्ण रूप से ढँक लिया जिससे किसी भी स्थल से न तो पवन का प्रवेश हो—न स्वरों का, किन्तु इतने पर भी उसे नींद नहीं आ रही थी। इसलिये, न चाहते हुए भी कुछ स्वर उसके कानों में पड़ ही जाते थे। एक बार कुछ फुसफुसाहट-सी उसे मालूम पड़ी; जैसे उसकी माताजी कह रही हों—"नहीं-नहीं' मैं नहीं पिऊँगी। मैं इस चीज से नफ़रत करती हूँ।" फिर कुछ आहट-सी हुई। जैसे एक धक्के के साथ कोई वजनी चीज पलँग पर गिर पड़ी हो। और साथ में चूड़ियों के खनकने का स्वर, और नर्मदा के शरीर में अथ से इति तक एक सिहरन दौड़ गयी। तब उसने पुनः लिहाफ़ से और भी सावधानी के साथ अपने को ढँक लिया। फिर एक निःश्वास लेकर वह सो जाने का व्यर्थ उपक्रम करने लगी। फिर आज की एक घटना उसे याद हो आयी।

[२]

लिमिटेड स्टाप्स की 'ए' बस पर, वह शिवाजी पार्क नं० २ के पास से सवार हुई थी। उसके बाद रानाडे रोड के निकटवाले स्टाप पर उसके बगल की सीट पर एक युवक आ बैठा। नर्मदा ने जान-बूझ कर उस पर कोई ध्यान नहीं दिया, किन्तु उस युवक के हाथ में जो पुस्तक थी, उसकी ओर, न जाने क्यों, उसका ध्यान आकृष्ट हो ही गया। यह देख कर वह अपनी स्वाभ-

भंगिमा संवरण रख ही न सकी कि पुस्तक का नाम है—"रूप-सौन्दर्य और प्रेम।"

युवक ने पहले नर्मदा की उपेक्षा की थी। एक बार भी उसने उसकी ओर दृष्टि नहीं डाली थी, परन्तु इस बार जब नर्मदा ने पुस्तक का नाम पढ़कर अपने अधर हिला दिये, तो युवक की दृष्टि नर्मदा के नयन-कटोरों से बिंध गयी। किन्तु वह तुरंत सम्हल गयी; यद्यपि इस बार उसे रूमाल का प्रयोग करना पड़ा। एक बार नर्मदा का कंधा दिवाकर के बदन से जा लगा और दोनों ने एक दूसरे को देखा। इस बार नर्मदा ने अपनी दृष्टि हटा ली और युवक उसके इस संकोच को भी लक्ष्य करता रहा। कालाघोड़ा का स्टाप आ गया और ज्योंही नर्मदा बस से उतरी, अपने कालेज की ओर जाने लगी, त्योंही उसने देखा, वह युवक भी उसके साथ साथ चल रहा है। नर्मदा को उसपर कुछ सन्देह हुआ ही था कि इतने में सड़क पर एक ओर से मोटरों के आने का ताँता लग गया, दूसरी ओर से एक बस और मोटर-साइकिल आ गई। नर्मदा बीच में कुछ ऐसी फँस गयी कि एक दम से घबरा उठी। यहाँ तक कि अगर वह युवक उसका हाथ थामकर पीछे की ओर खींच न ले, तो नर्मदा के प्राण संकट में पड़ जायँ। और इसका परिणाम यह हुआ कि इस अवसर पर नर्मदा को उसे धन्यवाद देना ही पड़ा।

[३]

—"रात्रि के इस सन्नाटे में भला वह युवक क्या कर रहा होगा ? उँह मुझसे मतलब । लेकिन अगर वह उस समय हाथ पकड़ कर मुझे खींच न लेता तो . ? तो कुछ नहीं । यह 'तो' व्यर्थ है ।...मेरी बाहु का वह भाग खुला हुआ था, और वही भाग उसने थाम लिया था, यहीं उसकी अँगुलियाँ चिपक गयी थीं, उन अँगुलियों में कुछ गरमाहट थी, कुछ कठोरता, कोई एक शक्ति, कोई एक आकर्षण था । ऐसा कुछ था, जो पहले कभी मिला नहीं था । एक जोर था, एक करेंट था, एक सहानुभूति थी, एक मर्म था । ऐसा कुछ सलोना सलोना-सा था, जो मधुर था । मूक होते हुए भी वह मुखर था । यद्यपि वह एक साधारण-सी बात थी ।.. हाँ थी तो साधारण-सी ही । लेकिन...। अब लेकिन-वेकिन कुछ नहीं ।...सो जाओ तुम ।... हाँ, हम सोये जाते हैं, पर आप से मतलब ?"

सोचती हुई नर्मदा अपने आपसे कहने लगती है—"अरे वाह ! मैं क्या पागल हो गई हूँ ?...पागल रानी, तुम्हें कौन बनायेगा ? हजारों को बनाने के लिये अकेली तुम काफी हो ! कि इतने में फिर फुसफुसाहट के स्वर आये—"नहीं नहीं, अब नहीं !" फिर एक सन्नाटा—कहीं कुछ नहीं । फिर बिल्ली के कूदने का-सा स्वर ! फिर पैरों में पड़े लच्छों के बजने की आवाज ! फिर नर्मदा अपना लिहाफ सम्हालती है और साथ

में एक निःश्वास लेती है ! फिर उसे माता-पिता की बातचीत के कुछ दृश्य याद आते हैं। एक दिन आफ़िस से लौटते हुए पिताजी ने कहा था—

—"वैसे तहसीलदार साहब का वह लड़का हमें पसन्द है। लेकिन सवाल पाँच हज़ार का है। पाँच हज़ार का ही क्यों, दो-तीन हज़ार दोनों ओर के स्वागत-सत्कार के लिये भी तो चाहिये।"

तो माताजी बोल उठी थीं :—

—"चाहे जो इंतज़ाम करो। रोज़-रोज़ मुझे सुनाते क्या हो ! पैसे मेरे पास हैं नहीं—और ज़ेवर मैं छूने भी न दूँगी, समझे कि नहीं ?"

माताजी की इस बात को सुनकर पिताजी कुछ बोले तो नहीं, लेकिन उनका चेहरा उतर गया। जैसे उनके हृदय को किसी ने नोच लिया हो, अपने खूँख़ार नखों से। और उन नखों में मांस का लुथड़ा नुच कर चला आया हो ! तब अभी अभी उतारे हुए कपड़े उन्होंने फिर धारण कर लिये और माताजी से बिना कुछ कहे हुए कहीं चले गये।

उस रात पिताजी बहुत देर से लौटे। और लौटे भी तो एक मित्र मिस्टर मेहरा के साथ, जो अक्सर सड़क पर खड़े होकर उनके सम्बन्ध में मुझसे पूछा करते थे कि वह घर में हैं या नहीं ? क्योंकि सड़क की ओर खुलनेवाली खिड़की से

प्रायः मैं ही झाँका करती थी। उस समय पिताजी होश में नहीं थे। तभी मिस्टर मेहरा उनको सीढ़ी से ऊपर तक सहारा देकर ले आये थे। माताजी के साथ-साथ खुद मैंने भी उन्हें गिरते-पड़ते क़दम बढ़ाते देखा था। दाईं ओर उनका सिर फूटा हुआ था। उसमें खून बह रहा था। पैंट और कोट में स्थल-स्थल पर मिट्टी, कीचड़, लीद और गन्दगी के दाग़ पड़े हुए थे, और मेहरा साहब का कहना था कि वह एक होटल की नाली में पड़े हुए थे!

दूसरे दिन जब पिताजी उठे, तो अपनी इस दशा पर लज्जित तो बहुत हुए, लेकिन फिर माताजी से उलझे बिना न रहे। यों वे सदा उनका लिहाज़ करते थे, उनकी कोई बात नहीं टालते थे। माताजी ने जब कहा कि "तुम पीते ही क्यों हो, जब यह जानते हो कि यह चीज़ बुरी है?" तो पिताजी ने उत्तर दिया था कि "यह ज़िन्दगी ही कौन बहुत भली है! जवान लड़की घर में बैठी है, और हम न तो अपनी आँखें फोड़ लेते हैं, न हमसे ज़हर खाते बनता है। हम ज़िन्दा ही क्यों रहते हैं! हमारे मर जाने से दुनियाँ का क्या बिगड़ जायगा!

इस पर माताजी ने टोक दिया। टोक क्या दिया, वे तड़प उठीं। बोलीं—"इससे तो अच्छा है कि तुम मुझी को ज़हर दे दो, क्योंकि अगर तुमने अपने लिये ऐसा कुछ कर डाला, तो फिर मेरा क्या होगा!"

वह दिन, वह घड़ी, वह क्षण कुछ विलक्षण-सा था ! पिता जी के मुँह में जो भी आया, बकते रहे। यहाँ तक कि माताजी की इसी बात पर कह उठे—"तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। आज मैं हूँ, कल दूसरा हो जायगा।"

इस पर माताजी रो पड़ीं। बोलीं—"तुम मेरा अपमान कर रहे हो! "लेकिन पिताजी पर उनके इस रुदन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे बोले—"इसमें बेजा भी क्या है ? मैंने भी तो दूसरी शादी की है। इसी प्रकार तुम भी कर लोगी। अब भी कर सकती हो, अगर तुम्हें जरूरत हो; क्योंकि पहले की बात और होती है। दूसरा फिर भी दूसरा ही होता है !"

अब रात भीग गयी है। वे स्वर भी शान्त हैं। सारी प्रकृति शान्त है। घड़ी में दो बजते हैं और नर्मदा निद्रा की पावन गोद में पहुँच कर आँखें मूँद लेती है।

[४]

तीन दिन बाद।

आज जब नर्मदा बस की खाली सीट पर बैठने लगी, तो उसने लक्ष किया, वही युवक बैठा है। तब यकायक पुनः उसके अधर-पल्लव खिल पड़े।

युवक बोला—"आपने मुझे पहचान लिया!"

नर्मदा ने उत्तर दिया—"आपकी कृपा से।" और वह मुस्कराती-मुस्कराती रुक गयी।

युवक ने टाफ़ी के कुछ टुकड़े उसकी ओर बढ़ा दिये। नर्मदा संकोच में पड़ गयी। बोली—"नहीं, धन्यवाद।"

लेकिन युवक नहीं माना। बोला—"नहीं कहने से काम नहीं चलेगा। मेरी भेंट आपको लेनी ही होगी। चाहे वह कितनी ही क्षुद्र हो!"

"क्षुद्र मैं उसे क्यों कहूँ?"—नर्मदा ने कह दिया—"क्या अधिकार है मुझे ऐसा कहने का! लेकिन इस भेंट का कारण क्या मैं जान सकती हूँ! अगर मुझे इसे स्वीकार करना ही पड़े!"

युवक ने अँगरेजी में उत्तर दिया—"सिम्प्ली टु प्रेजेंट यू सम स्वीट ड्रॉप्स!"

नर्मदा पहले मुस्करायी फिर गम्भीर हो बोली—"पर अगर वे कड़ुवे निकले...!"

"तो मेरे मुँह पर काजल पोत देना। चुल्लू भर पानी तो डूब मरने के लिये मिल ही जायगा।"

नर्मदा ने अनुभव किया, शर्तनामा बुरा नहीं है। फिर उसके मन में आया, पता नहीं, ये कौन हैं, किस जाति और धर्म के हैं, किस परिस्थिति में हैं। फिर ऐसे कई युवकों का स्मरण हो आया, जिन्हें वह भूल चुकी है। फिर सोचा, लेकिन टाफ़ी के ये टुकड़े तो इस विचार से परे हैं। पर युवक अधीर हो उठा था। तभी नर्मदा को सोचने का और अधिक अवसर न देकर उसने टाफ़ी के वे टुकड़े उसे दे ही दिये। फिर हास के दोलन

में कह दिया— 'चख के देखो तो सही। शायद पसन्द ही आ जायँ।" नर्मदा संकोच में पड़ गई। थोड़ी देर में काला-घोड़ा का वही स्टाप फिर आ गया'। फिर वह युवक साथ हो गया। लेकिन इस बार उसका हाथ नर्मदा के हाथ में था। उस समय नर्मदा मौन थी, किन्तु उसका मन अशांत था। कुछ कल्पनायें आतीं; आत्मा में, नस-नस में, रगों और प्राणों के स्पन्दन में अमृत घोल जातीं।

और युवक ? वह कहता जा रहा था—"तो मैं फिर कब मिलने की आशा करूँ ? क्योंकि अब तो कॉलेज आपका निकट आ गया।"

"हाँ, कॉलेज तो आगया।" नर्मदा बोली और हँस दी।

सचमुच वह कालेज के मुख्य द्वार पर थी। अधीर युवक आज की बात को कल पर टालना नहीं चाहता था। साथ में आगे और पीछे और भी लड़कियाँ जा रही थीं। फिर भी स्पष्ट बात करने में उसे संकोच नहीं हुआ। उसने फिर नर्मदा का हाथ थाम लिया। (क्योंकि नर्मदा, हो सकता है कि अब अन्दर की ओर मुड़कर केवल 'नमस्ते' में टाल दे) और बोल उठा—"जवाब दिये बिना जाने न पाओगी।"

नर्मदा पहले खड़ी ही रही। कुछ स्थिर न कर सकी। एक बार मन में आया—छुट्टी के समय इसी पथ पर मिलने के लिये क्यों न कह दूँ। इतने में उसकी सखी मालविका उधर

से अन्दर जाती हुई मस्ती-भरी चितवन से उसे देखती-देखती आँख मारती चली गयी। फिर एक कार आकर हार्न देने लगी, फिर सामने के रेस्तोराँ में गीत की एक पंक्ति फूट पड़ी— "अखियाँ बावरी, मिल ही गयीं!"

अधीर युवक ही तब तक बोल उठा—"चार बजे, छुट्टी के समय मिलने में तो कोई झंझट है नहीं?"

उद्वेलित नर्मदा बोली—"नहीं। पहले चलो कहीं बैठकर चाय पियें।" दोनों तब एक ओर चल दिये! युवक ने अनुभव किया, प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। नर्मदा सोच रही थी–अपने भविष्य के निर्माता हम स्वयं हैं। और युवक सोच रहा था—संयोग ही भाग्य है और इन संयोगों को उत्पन्न करने वाला पुरुषार्थ।

[५]

आज सायंकाल नर्मदा, चिन्ता में डूबी हुई कालेज से लौट कर जो अपने कक्ष में पहुँची और अपनी जेब में पड़े कागजात सम्हालने लगी, तो उसने जेब में पड़ा हुआ एक नवीन कागज पाया। तब उसे ख्याल आ गया कि दो-चार मिनट के लिये, उस रेस्तोराँ में, जब दिवाकर मुझसे ऑफ़ हुआ था, तभी उसने यह चिट लिखी होगी और फिर मौक़े से मेरी जेब में छोड़ दी होगी। उसमें लिखा था:—"मैंने अपने सम्बन्ध में जो कुछ तुमसे बतलाया, सब ग़लत था। मैं केवल तुम्हारी प्रतिक्रिया देखना चाहता था! वास्तव में मैं ट्यूशन करने कहीं नहीं जाता। न

मैं आजकल कहीं नौकरी की तलाश में मारा-मारा फिरता हूँ। बिना घर-द्वार का केवल दोस्तों की दया पर निर्वाह करने वाला प्राणी भी मैं नहीं। मैं तो एक प्रयोग-रत प्रगतिवादी पत्रकार हूँ। मेरी मासिक आय ढाई सौ से छै सौ तक घटती-बढ़ती चलती है, जैसी-"मेरी नर्मदा की गम्भीरता का चढ़ाव-उतार।" और आज जब रात को नर्मदा अपना अध्ययन समाप्त कर लेटी, तो अपनी ही विचारधारा में इस प्रकार निमग्न थी कि पिछली रातों के उन उत्तेजनात्मक स्वरों की पुनरुक्तियों का उसे भान ही न हुआ। नया प्रभात आया, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ---जैसे यही उसके जीवन का स्वर्ण प्रभात है!

आज उसे कॉलेज नहीं जाना था; क्योंकि आज रविवार था। आज उसने माताजी को घर-गृहस्थी का कोई काम छूने नहीं दिया। साग उसने खुद बना दिया। रोटी सेंकने वह खुद बैठ गई। माताजी की एक नयी साड़ी धोबी के घर से फटकर आयी थी, दोपहर के बाद उसने दो घंटे जुटकर उसे ऐसा रफू कर दिया कि माताजी ने स्वयं पीठ ठोंक कर उसकी प्रशंसा की। दोपहर को उसके पिताजी खाना खाने बैठे, तो उनको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि नर्मदा एक छटांक आटे में सोलह रोटियाँ बना लेती है!

लेकिन नर्मदा ने उस क्षण यह भी अनुभव किया कि उनकी इस प्रसन्नता की वह अवधि बहुत थोड़ी देर रही। थोड़ी ही

देर में वे पुनः चिन्ता में पड़ गये। इस बात की प्रतिक्रिया ने नर्मदा को ग्रस लिया। धीरे धीरे पाँच बजे, छः बजे। आध-आध घंटे पर वह अपनी रिस्टवाच देखती रही। फिर तैयार होकर चल दी। चलते समय उसके पिताजी घर पर न थे, इसलिये वह माता जी से ही मालविका के साथ सिनेमा देखने के कार्यक्रम की बात कहकर चल दी!

हैंगिंग गार्डेन में पूर्व-निश्चित बेंच के पास आज जब दिवाकर और नर्मदा ने एक दूसरे को देखा, तो उनमें कोई विशेष संकोच न था। घंटे भर तो वे सिर्फ बातें करते रहे। फिर दिवाकर ने कहा—"चलो आज हमारे साथ खाना खाओ। देखूँ तुम्हारी कैसी रुचि है! तुम्हें नमकीन चीजें अधिक प्रिय लगती हैं, या मधुर?"

नर्मदा तब पूछ बैठी—"और चटपटी के लिये क्यों नहीं पूछा?"

दिवाकर ने न आव देखा न ताव कह डाला—"इसलिये कि चटपटी तो तुम खुद हो। उसके स्वाद का तुम्हें ज्ञान ही कैसे हो सकता है! क्यों?" कहते कहते दिवाकर ने नर्मदा के कटि प्रदेश में एक चुटकी भी ले ली।

नर्मदा अलग हट गई। बोली—"देखो मुझे तंग मत करो, नहीं तो पतंग बन कर उड़ जाऊँगी।"

दिवाकर फिर पास आगया। बोला—"जरा उड़कर देखो

तो पता चल जाय। न माँझे को, दूसरी पतंग से एक मिनट में ही साफ कर दूँ, तो मेरा नाम दिवाकर नहीं।"

नर्मदा बोली—"तो मुझसे यह दैहिक छेड़छाड़ क्यों करते हो?" तब दिवाकर ने सहज भाव से कह दिया—"क्योंकि यही हमारे मिलन की सीमाओं का प्रथम पदक्षेप है। यही हमें उस बन्धन को दृढ़ बनाने की प्रेरणा देता है।"

[६]

दूसरे दिन सायंकाल ज्यों नर्मदा के पिता घर आये, तो आते ही अपनी नवभार्या से बोले—"अरे सुनती हो!"

उन्होंने जवाब दिया—"क्या? कुछ कहो भी तो?"

"आज एक ऐसे लड़के का पता लगा है,"—किशोरीलालजी कहने लगे—"अगर नर्मदा पसन्द आ जाय, तो विवाह बिना दहेज के तै हो सकता है। लेकिन है वह कल्याण-भार्य। उसकी पत्नी का देवलोक अभी पर साल हुआ है। उमर भी ऐसी कुछ ज्यादा नहीं, यही तीस-बत्तीस की होगी, पर यह सोचकर मैं चिन्ता में पड़ जाता हूँ कि यदि नर्मदा को वह पसन्द न आया तो...।"

"मगर लड़की की पसन्द का ख्याल करता कौन है? मेरा किसने ख्याल किया था? बेकार तुम यह सब सोचते हो? तुम्हें आम खाने से मतलब है या पेड़ गिनने से?"—पत्नी ने जो इस तरह जवाब दिया तो किशोरीलाल चुप रह गये। फिर जैसे

अपने साथ समझौता करते हुए कहने लगे—"हाँ कहती तो तुम ठीक हो। जमाना बड़ा खराब आ लगा है। कौन जाने कब क्या हो जाय।" फिर इसी सिलसिले में पूछ बैठे—"कहाँ गई नर्मदा?"

जवाब मिला—"अपनी सखी मालविका के साथ सिनेमा देखने गई है।"

"अच्छा!' कहते-कहते विस्मय-विमूढ़ हो उठे किशोरी-लाल जी! फिर उत्तेजना-पूर्वक बोले—"और तुमने मना नहीं किया?"

"मैं क्यों मना करूँ?' बी० ए० में पढ़नेवाली लड़की—"उमर में मुझसे सिर्फ एक साल छोटी—मेरा कहना वह मानने ही क्यों लगी?"

"हूँ, तो अब इस घर की रही-सही मर्यादा पर भी आँच आने को है!...यह तो मैं पहले से ही जानता था"—कहते-कहते जब किशोरीलाल जी उठने लगे, तो उनकी देवी जी पूछ बैठी—"क्या जानते थे?"

किशोरीलाल ने पुनः बाहर जाने के लिए चप्पल पहनते हुए कह दिया—"यही कि इस घर की व्यवस्था को सुधारना तो दूर, उसे उपेक्षा से देखना और हो सके तो बिगाड़ने में सहा-यता देनी ही तुम्हारे द्विमातृ-धर्म का लक्ष्य है! और जब तक मेरे अतीत जीवन के सारे चिह्न मिट नहीं जायँगे, तब तक

तुम्हारी यह ज्वाला शांत न होगी ! अच्छा देवी, वही करो, जो तुम्हें भाये।" और वे पत्नी के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना चले गये।

पर आज जब नर्मदा घर लौटी, तो वे दोनों हँस-हँस कर बातें कर रहे थे !

[७]

दूसरे दिन—

दिवाकर और नर्मदा, जब रात को आठ बजे हैंगिंग गार्डेन से लौटने लगे, तो वे दोनों यथेष्ट प्रसन्न थे। बस में कोई किसी से नहीं बोला, लेकिन चर्नीरोड पर उतरकर जब वे पुनः जग-मगाते हुए जनाकीर्ण जगत् में आ गये, तो दिवाकर ने पूछा—"अब तो खाने चलोगी न ?"

नर्मदा तुरन्त सहमत होगयी। बोली—"चलो।"

दोनों सिटी होटल में खाना खा रहे थे। दिवाकर ने लक्ष्य किया, नर्मदा अब भी गंभीर है। तब वह बोल उठा—"शायद तुम यही सोच रही हो कि पिताजी सुनकर पता नहीं, क्या कहें !"

"उँह ! उसकी मैं चिन्ता नहीं करती। भगवान् तथागत ने एक बार एक प्रवचन में कहा था—"किसी भी आपत्ति (धर्म-संकट-जन्य प्रतिक्रिया) का प्रभाव अधिक से अधिक तीन दिन तक रहता है !"

चलते समय दिवाकर नर्मदा को उसके घर तक पहुँचाने चला गया। नर्मदा जब अन्दर की ओर जाने लगी, तो उसने दिवाकर से कहा—"खड़े हो रहे! चलो न मेरे साथ? डर किस बात का है!"

उधर किशोरीलालजी घड़ी देखकर बड़-बड़ा रहे थे।

—"आज उससे साफ तौर से यह कहना ही पड़ेगा कि इतनी रात को घूमना बंद करो। मैं यह सब आवारापन पसन्द नहीं करता।"

इतने में नर्मदा दरवाजे के पास जा पहुँची। दिवाकर पिछली सीढ़ी पर खड़ा रहा।

किशोरीलाल, अपनी समझ से, जीवन में आज पहली बार नर्मदा पर बिगड़ने की चेष्टा कर भृकुटियों में बल डालकर बोले—"कहाँ गई थी?"

नर्मदा ने पिता की बात का जवाब न दे, पीछे की ओर घूमकर दिवाकर से अंदर चले आने का संकेत किया। पर दिवाकर फिर भी वहीं खड़ा रहा।

किशोरीलाल और भी तेजी के साथ बोल उठे—"मैं पूँछता हूँ, कहाँ गई थी?"

स्वर की तीव्रता से आतंकित हो अनिष्ट की कल्पना कर, उनकी नवभार्या घबड़ा उठीं, वे नर्मदा के पास आगयीं और बोलीं—"धीरे से बात करो। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा!"

और नर्मदा ने निर्भीकता-पूर्वक उत्तर दिया—"गई थी वहाँ जहाँ सभ्यता सांस लेती है ! यह लीजिये उसका प्रमाण-पत्र !"

और इस कथन के साथ ही दिवाकर अन्दर आकर जब किशोरीलाल के चरण छूने लगा तो नर्मदा ने संकेत के साथ बतलाया—"इनके भी—ये मेरी माता जी हैं !"

पर जल्दी में किशोरीलाल की समझ में नहीं आ रहा था—काहे का प्रमाण-पत्र कैसा प्रमाण पत्र !

झरना

सन् १६४७ ई०। मास सितम्बर। दिनांक १७।

केशव कार से उतरकर सीधा सतीश के यहाँ जा पहुँचा। पास पहुँचने से पहिले, द्वार से ही उसने कहना आरम्भ कर दिया—"आज आपको आना ही पड़ेगा।" फिर कुर्सी पर बैठता हुआ बोला—"कितने दिनों से मैं कह रहा हूँ, लेकिन आप सदा समयाभाव का बहाना बना देते हैं। अगर आप मुझे माफ करें तो मैं कहूँगा कि-भले काम के लिए जिन लोगों के पास समय का अभाव रहता है, उनको...।"

कि सतीश मुस्कराता हुआ बोल पड़ा—"उनको आज गोली से उड़ा देने का वक्त आगया है। बस, यही न ?" और आँखों से चश्मा उतार कर उसके लैंस को श्यामा लेदर से साफ करने लगा !

केशव बोला—"ऐसा मैं नहीं, आप ही कह सकते हैं; क्योंकि आप हमारे मान्य नेता हैं। अतः आप जो कहेंगे, उसे चुपचाप मान लेना मेरा कर्तव्य है।" सतीश को बात-बात में

नेतापन की दुहाई से एक चिढ़-सी हो गयी है। इसलिए भाव बदलकर और फिर सतीश की ओर देखकर स्वयं ही मुस्कराता हुआ बोल उठा—" मजाक नहीं, सच-सच बतलाइये, किस वक्त आइयेगा ?"

" क्यों, मेरे आने की ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गयी ? दया, करुणा और सहानुभूति के बहाने कहीं आँख तो नहीं लड़ा बैठे किसी पांचाली से ! " सतीश ने ऐसे सहजभाव से कह दिया कि एक आलोचक की कटुता का भान भी केशव को न हो पाया। किन्तु वह जानता है कि यह व्यक्ति मेरी दुर्बलताओं को भी मृदुलता से ही टटोलता है ! इसलिए क्षणभर को तो वह सम्भ्रम में पड़ गया। लेकिन सहन फिर भी कर नहीं पाया इस आक्षेप को ! बोला—"आज भी अगर मेरी कीमत पिछले हिसाब से ही लगाइयेगा, तो मैं कम्युनिस्ट चाहे न बनूँ, लेकिन आमरण अनशन किये बिना मुझे संतोष न होगा ! " साधारण रूप से कह जाने पर भी जब उसे संतोष न हुआ तो फिर कह डाला—" आज का जगत् भी अगर सुधरे हुए पुराने पापियों पर अविश्वास ही करता रहेगा तो बापू के जीवन की सारी साधना ही व्यर्थ होजायगी। कभी सोचा है आपने ?"

कहते हुए केशव उठ खड़ा हुआ। सतीश ने कहा—"बैठो-

बैठो। बिगड़ो मत ज्यादा। आ ा मैं आऊँगा तुम्हारे काम का निरीक्षण करने।"

एक ओर लोग शरणार्थियों को खाना परोस रहे थे और शरणार्थी खाने पर टूट रहे थे। कुटुम्बियों के अमानुषिक उत्पीड़न, वियोग और भूख की ज्वाला ने उनका संयम अस्थिर कर डाला था। उनका मानसिक स्तर स्थानान्तरित होगया था—सभ्यता से उतरकर असभ्यता और नागरिकता से च्युत होकर अनागरिकता अब उनके लिए अधिक स्वाभाविक होगयी थी। उनका धैर्य्य खो गया था; क्योंकि उनका संसार उजड़ गया था। उनका असामान्य पौरुष खोगया था; क्योंकि एक संगठित नर-संहार ने उनको अपनी ही दृष्टि में कापुरुष बना डाला था।

दूसरी ओर एक कमरे में, कई शरणार्थियों से घिरा हुआ केशव बोल रहा था—"आप लोग यहाँ मेहमानदारी के लिए तो आये नहीं, और यह भोज भी किसी सिंघानिया का प्रीति-भोज नहीं है। फिर आप लोगों का यह कहना कि हमें खाने में फल नहीं मिले, और मिठाई एक भी नहीं मिली, शोभा नहीं देता।"

उसका उत्तर उसे मिलता है—"शोभा आपको नहीं देता महाशयजी हमसे ऐसी बातें करना। हम फल और मिठाइयों पर लार टपकाने वालों में से नहीं हैं। हमारा तो कहना यही है कि आप हमको गलत मत समझिए। मुश्किल तो यह है कि

आप यह सुनना भी पसन्द नहीं करते कि हमारे यहाँ का मामूली स्टैंडर्ड क्या है ?"

केशव इस उत्तर को सुनकर स्तब्ध हो उठा !

शरणार्थियों के उस दल में कई स्त्रियाँ और नवयुवतियाँ भी हैं। एक व्यक्ति साग परोसने के लिए ज्योंही चार कटोरियों से भरा चौघरा लेकर उनके सामने पहुँचा, त्योंही वहाँ हलचल मच गयी।—"इधर भी लाना महाशयजी !" एक ओर से एक प्रौढ़ा ने कह दिया। इतने में आम की फाँक परोसता हुआ दूसरा व्यक्ति वहाँ जा पहुँचा तो एक नवयुवती की दृष्टि उस पर जा पड़ी। बोली—"दो फाँके इधर भी।" लेकिन तब तक थाल खाली हो चुका था।

सतीश पास ही खड़ा था।

परोसने वाले ने उत्तर दिया—"अब तो मजबूरी है।" और खाली थाल उसने उस नवयुवती के आगे कर दिया।

किन्तु पुनः ज्योंही सतीश ने उस नवयुवती की ओर ध्यान से देखा तो उसके स्मृति-पट पर कुछ चित्र घूमने लगे।

(२)

उस दिन रास्ते में उसे केशव मिल गया था। वह कहीं से ताँगे पर आरहा था। अँधेरे में साइकिल पर किसी को आता देख उसने टार्च का स्विच ऑन कर दिया। फिर शरीर और ग्रीवा की एक लचक के साथ उसने कहा—"ओः असतीश।

माफ़ कीजियेगा, आप तो सतीश हैं! लेकिन ..इस वक्त जा कहाँ रहे हैं उस्ताद ? ”

फिर तेवर बदलकर ताँगेवाले से कहने लगा—“अबे खड़ाकर साले! देखता नहीं कि मैं एक फ्रैंड से बातें कर रहा हूँ! नामाकूल, बटेर की औलाद !”

सतीश कुछ कहने ही वाला था कि ताँगेवाले पर केशव जो बरस पड़ा तो वह उसे देखता ही रह गया।

ताँगेवाला सहम गया, कांप उठा यह देखकर कि यह व्यक्ति आदमी की शकल में शैतान, और हैसियत में हमारा आक़ा है। ताँगा खड़ा करके वह केशव को इस तरह देखने लगा, जैसे जंगली चूहे की आँखें किसी बिल्ली को देखती हैं।

केशव ताँगे पर से उतर पड़ा और उसने ताँगेवाले को आदेश दिया—“ताँगा वापस लेजा।” ताँगा चल पड़ा और केशव सतीश की ओर घूम गया। वह लांगक्लाथ का पायजामा और मलमल का कुर्त्ता पहने हुए था। सतीश ने चाहा कि वह आगे बढ़ जाय, किन्तु केशव ने निकट आते हुए कह दिया— “उतरिए-उतरिए, मुझे आपसे कुछ कहना है।” फिर टार्च का प्रकाश उसने सतीश की साइकिल की ओर फेंककर उसका हैंडिल थाम लिया।

सतीश साइकिल से उतर पड़ा। केशव के पास आते-आते उसने अनुभव किया, उसके मुँह से बास आ रही है। वह नशे

में धुत्त है। किन्तु अपने मनोभावों को रोक कर उसने कह दिया—"कहिए!"

केशव ने एक बार सतीश की ओर देखा, तो एकाएक उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सचमुच इसके आगे मैं एक कीड़ा हूँ, और यह एक सिद्ध पुरुष है। इसकी आँखें जब मेरे ऊपर आ पड़ती हैं तब मेरे मन में आता है, अपने सारे अपराध इसके आगे चुपचाप स्वीकार करलूँ। किन्तु फिर उसे याद आगया कि यह प्रायः दूसरों के आग्रहों और अनुरोधों की अवहेलना करता है। तब वह स्वयं अहंकार से भर गया। वह सतीश से कोई कटु वचन कहने ही वाला था कि उसकी बायीं ओर का निचला होंठ पीक की राल बहाने लगा। तब जो कुछ वह कहना चाहता था उसे थोड़ा बदलकर उसने कह दिया—"आप मुझसे जितनी घृणा करते हैं, मैं आपके प्रति उतनी ही श्रद्धा रखता हूँ। अब मैं आप ही से पूछता हूँ—"हम दोनों में मनुष्य कौन अधिक है?"

सतीश केशव की इस बात को सुनकर चकित होगया। वह उससे ऐसे गूढ़ प्रश्न की आशा नहीं करता था। विशेष रूप से इस समय जब वह नशे में धुत्त है। अतः किसी प्रकार की उत्कण्ठा प्रकट किये बिना सहज भाव से उसने कह दिया—"बात अगर सच हो, तो मानवता प्रबल आपमें ही माननी पड़ेगी। लेकिन मैं आपसे घृणा क्यों करने लगा?"

केशव ने सिगरेट का पैकेट जेब से निकाला। एक सिगरेट सतीश को देते हुए उसने कहा—"लीजिए।"

सतीश ने संकेत से इनकार कर दिया, तो केशव ने आग्रह की दृढ़ता से कह दिया—"अरे लीजिए भी!" लेकिन फिर भी सतीश ने सिगरेट न ली। तब उसी सिगरेट को अपने होंठों में दबाकर, दियासलाई से जलाकर, जोर का एक कश लेकर वह बोला—

"आपमें इतना भी साहस नहीं है कि मुँह पर सच्ची बात कह सकें। रोआँ-रोआँ आपका दंभ और पाखंड में डूबा हुआ है!"

एक बार तो सतीश को अपना पौरुष सजग होता जान पड़ा; किन्तु वह यही सोचकर रुक गया कि एक ही तमाचा अगर ठिकाने से लग गया तो अंग-भंग हो जाने का डर है, और यह उसकी कोरी कल्पना भी न थी। बचपन में एक बार उसके एक साथी ने उससे घृणित परिहास के मिस कुछ कह दिया था। उत्तर में उसने इतने जोर से तमाचा मार दिया था कि उसका एक ओर का कान ही बधिर पड़ गया था। अतएव अपने ही द्वारा निर्धारित विनय, संयम और नियंत्रणों में विजड़ित सतीश फीकी मुस्कराहट प्रकट करता हुआ बोला—"शायद!"

केशव मानो सतीश को उत्तेजित करना चाहता था। वह

सोचता था कि उसकी बात का उत्तर देने में वह कटु हो जायगा। ऊँचा व्यक्तित्व रखने वाला व्यक्ति जब कटु बनता है, तब वह कैसा बन जाता है, जान पड़ता है—वह उस समय यही देखना चाहता था, किन्तु अब उसको प्रतीत हुआ कि यह उसका भ्रम था। तब वह पुनः सोचने लगा कि इस व्यक्ति में कोई ऐसी सिद्धि अवश्य है जिससे वह स्थान-च्युत नहीं होता; अपने समय से नहीं गिरता। तब उसे आश्चर्य ने घेर लिया और उसके मन में आया कि—क्या कोई आदमी इतना ऊँचा उठ सकता है? इसका फल यह हुआ कि वह स्वतः अपनी दृष्टि में और भी अधिक हीन, क्षुद्र और पतित बन गया। उसने नतजानु होकर सतीश के चरण पकड़ लिये, फिर उठकर, हाथ जोड़कर कहने लगा—"आप वास्तव में देवता हैं!"

साइकिल को एक ओर फेंक पहिले झुककर केशव को कन्धे से पकड़ कर उठाते और पुनः उसे गले लगाते हुए सतीश बोला—"आप यह क्या कह रहे हैं? मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप कुछ दुर्बलताओं से घिर गये हैं; किन्तु इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। सृष्टि का ही यह एक कौतुक है कि प्रबल जीव निर्बलों को खाते-खाते जब चरम विकास को प्राप्त हो जाता है, तब वह नष्ट हो जाता है और फिर जन्म लेकर निर्बलों की श्रेणी में आ मिलता है। अतः जो आप हैं वही मैं हूँ। केवल कुछ तत्वों का अंतर है। आपने अभी कहा था—"मैं

पाखंडी हूँ,—यह आपका भ्रम था। बुराइयों से मेरा वैर स्पष्ट है, किन्तु मनुष्य-मात्र के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति है। शत्रु को भी मैं प्यार करता हूँ। मेरा बश चले तो मैं उसको भी मित्र बना लूँ।"

केशव सतीश के इस कथन को सुनकर विस्मित हो गया। और तब किंचित् मौन के अनन्तर सतीश ने ही पुन: कहा —"चलिए!"

केशव का कण्ठ भर आया था और पलक भीग गये थे। सतीश ने एक हाथ से साइकिल उठायी और दूसरे हाथ से केशव का बायाँ हाथ थाम लिया। दोनों एक दिशा को चल दिये।

केशव अपने लॉज की ओर जा रहा है; वह अपनी उस अधिक चेतन स्थिति में यही समझ रहा था, पर निश्चित रूप से वह यह नहीं कह सकता था कि वह कहाँ जा रहा है? उसे कुछ ऐसा अनुभव हो रहा था कि वह अन्धकार के समुद्र में डूब गया है। डूबकर बिल्कुल निम्न-से-निम्नतल से जा लगा है। एक रज्जु है, या डोर कह लीजिए, जो उसके हाथ में पड़ गयी है। बस, अब उसी का अवलम्ब शेष है। वह चाहे तो ऊपर आ सकता है और बच सकता है। पर उसके हाथों में इतनी भी शक्ति नहीं है कि वह दृढ़ता से उस रस्सी को थाम सके। उसके हाथ शिथिल पड़ रहे हैं। रस्सी उसके

हाथ से छूट रही है, छूट रही है; वह अवलम्ब खो रहा है, खो रहा है !

वह उसे अपने निवास-स्थान पर ले जा रहा था। रास्ते भर सतीश केशव का हाथ पकड़े चलता आया।

पर केशव कहीं जाने के लिए ही तो निकला था। एकाएक उसे इसका स्मरण हो आया। यह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि सतीश उसका हाथ थामे चल रहा है, और वह अपने मार्ग से विचलित नहीं हुआ है। वास्तव में उसे जिस बँगले में जाना है, वह उसी के फाटक के निकट पहुँच गया है।

रास्ते भर में केशव ने सतीश से केवल दो बातें कीं। एक में उसने दुःख-सा प्रकट करते हुए कहा—"आज आपने मुझे नग्न देख लिया !" फिर कुछ ठहरकर—"कुछ-कुछ आप समझ तो उसी दिन गये होंगे, जिस दिन आपने मेरे कमरे में आने की कृपा की थी।......पर मुझे इसके लिए ज़रा भी खेद नहीं है।"

सतीश सोचने लगा—"और चाहे जो हो, यह व्यक्ति साहसी और वीर है, यह मानना पड़ेगा।"

उसने कह दिया—"पर आपको इस कारण संकुचित होने की आवश्यकता नहीं कि मैंने आपको इस दशा में देख लिया। आपको यह जानकर चाहे आश्चर्य हो कि मैं शराब को औषधि के सिवा और कुछ नहीं मानता। औषधि के रूप में मैंने भी

उसका सेवन किया है। अलबत्ता ऐसा अवसर इधर वर्षों से नहीं आया।"

एकाएक जैसे विस्मित और आह्लाद में डूबकर केशव ने कहा—"अच्छा!"

फिर थोड़ा रुककर उसने कहा—"तो आपको मेरे साथ चलने में कोई आपत्ति नहीं।"

सतीश ने सान्त्वना और समर्थन के भावों में आकर कहा—"आपत्ति की इसमें बात क्या है?"

बँगले के पास ज्योंही उसका फाटक आ गया, त्योंही केशव उसी ओर मुड़ने लगा। सतीश ने रोकते हुए कहा—"इधर कहाँ? मेरा घर तो थोड़ा और आगे है।"

केशव ने एक बार फिर उस बँगले की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"यहाँ मेरे एक मित्र रहते हैं। थोड़ी देर हम लोग यहाँ बैठलें, तब...।"

"पर मेरे पास अधिक समय नहीं है। मुझे तुरन्त घर जाना चाहिए। अच्छा हो, आप रुकें और मुझको जाने दें।" सतीश ने मन-ही-मन सोचते हुए कहा—"ऐसी हालत में यह आदमी जिस मित्र के यहाँ जा रहा है, हो सकता है कि वह भी इसी सम्प्रदाय का हो। ऐसे लोगों में मेरा अधिक सम्मिलित रहना कहाँ तक उचित है?"

केशव ने बिना किसी हिचकिचाहट के कह दिया—"जी,

मृत्यु का समय भी कम मूल्यवान् नहीं होता, पर इसीलिए क्या वह प्रिय वस्तु बन सकी है ?"

तब विवश होकर सतीश केशव के साथ चल दिया था।

(३)

बँगले के अन्दर पहुँचते ही बराण्डे में एक सफेद कुत्ता देख पड़ा। बदन पर इतने घने और लम्बे बाल कि दृष्टि पड़ते ही हाथ से टटोलने को जी ललचा उठे। केशव को देखते ही दौड़कर वह पैरों के पास जाकर ऊपर को मुँह करके पूँछ हिलाने लगा। सतीश को यह जानने में देर नहीं लगी कि इस घर के लिए केशव परिचित ही नहीं, अत्यन्त आत्मीय है। केशव ने उसे एक बार पुकारा, दो बार पुकारा और फिर सिर पर हाथ फेरते हुए कह दिया --"जा रे, अपनी अलका को खबर तो करदे।"

तुरन्त कुत्ता भीतर चला गया। पीछे-पीछे केशव हलकी हरी बिजली से आलोकित भीतर ड्राइंग रूम में जाकर बिजली के पँखे का बटन दबाता हुआ बोला--"बैठिए !"

सतीश उस समय थोड़ा शंकित हो उठा था, जब भीतर खबर करने के सिलसिले में केशव ने 'अलका' शब्द का प्रयोग किया था। पर ड्राइंग रूम देखकर शंका का भाव और आगे न बढ़ सका। कमरे में पड़ी गद्देदार कोचों, फर्श पर मखमली कालीनों और दीवारों पर लटकते सुन्दरतम चित्रों की दृश्यावली

में ऐसी कोई वस्तु उसे न मिली, जिसे देखकर उसकी सुरुचि को किसी प्रकार का आघात लगता। हाँ, बैठते ही उसकी वायलिन के कुछ मधुर स्वरों के साथ-साथ पैरों की धमक और बजने वाले घुँघरू का छम-छम स्वर अवश्य सुनायी पड़ा। पर उसी क्षण केशव ने पूछ दिया—"अंधेरे में दरवाजे के खम्भे में खुदे हुए नाम की ओर तो आपकी दृष्टि गयी न होगी ?"

सतीश बोल उठा—"अपनी ऐसी आदत ही नहीं है।"

केशव ने कह दिया—"सम्भव है आपने बैरिस्टर सोहनलाल का नाम सुना हो।"

सतीश यह कहने जा ही रहा था कि मैंने नहीं सुना कि एक अधेड़ दासी ने प्रवेश करते हुए एक तश्तरी में पान-इलायची और डिब्बे में सिगरेट-दियासलाई सामने तिपाई पर लाकर रखते हुए कहा—"सरकार अभी दो मिनट में आ रही हैं।"

और इसी समय कुत्ता आकर वहीं बैठ गया। केशव पान की तश्तरी को आगे बढ़ाता हुआ बोला—"लीजिए, पान खाइए।"

उसने तश्तरी उठायी ही थी कि सतीश बोल उठा—"आपको मालूम है कि मैं पान नहीं खाता।"

केशव ने अपनी सिगरेट के शेषांश को ऐश-ट्रे में कूँचते हुए उत्तर दिया—"केवल ज्ञान होने से अनुभव नहीं हो जाता। ज्ञान में यदि इतना बल होता कि उसको पाकर मनुष्य बदल सकता, तो संसार आज दूसरी ही स्थिति में होता। ज्ञान की

भी एक सीमा है। पर भोज्य पदार्थों का स्वाद कैसा होता है, इसका ज्ञान जो लोग बतलाने मात्र से प्राप्त कर लेते हैं, वे तोते हो सकते हैं, आदमी नहीं।...फिर हरएक पान बराबर नहीं होता। खाकर देखिए जरा......।"

फिर भी सतीश ने पान छुआ तक नहीं। उत्तर में वह पहिले मुस्कराया, फिर बोला—"एक सीमा तक मैं आपके कथन की सत्यता मानता हूँ, पर अनुभव के बल पर ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति अपेक्षाकृत सजीव और स्थायी होने पर भी अबौद्धिक और आधुनिक सभ्यता की प्रारंभिक स्थिति की है। सैकड़ों मील दूर बैठा हुआ—पायलेट—आकाश-मार्ग पर यात्रा करता हुआ, एक निश्चित अवधि में दुर्ग को ध्वंस कर डालता है, जिसका उसे केवल ज्ञान है, किन्तु जिसकी सूरत उसने कभी नहीं देखी। आप कहेंगे, यह उदाहरण वस्तु-जगत् का है और वैज्ञानिक आधार रखता है, इसलिए अब मैं मानव-जगत् की बात कहता हूँ।

"मेरे एक मित्र ने एक ऐसी लड़की के साथ विवाह कर लिया जिसके रूप, स्वभाव, वय और शिक्षा का परिचय उसने केवल उसकी लिखी कहानियों और चिट्ठियों से प्राप्त किया था। और तारीफ यह कि इस विवाह के साथ दम्पति के संरक्षकों का सहयोग विवाह निश्चित होने से पूर्व नाममात्र को भी न था, और अब मुझे यह सूचना देते हुए कम प्रसन्नता नहीं है कि, वे लोग अपने जीवन में परिपूर्ण और संतुष्ट हैं।"

तब केशव झट से कुर्सी से उठकर भीतर जाता हुआ बोला —"यहाँ आप यह भूल रहे हैं कि यह अपवाद है। साधारणतः ऐसा हुआ नहीं करता।"

वह दो कदम अन्दर बढ़कर फिर लौट आया और बोला— "मित्र या अतिथि की विदाई के क्षण अपनी अलका के साथ चलता हुआ न पाकर यह कुत्ता कभी-कभी अपनी जातिगत प्रकृति का परिचय देने लगता है। हालाँकि ऐसा अवसर नहीं आयगा ; मैं भीतर बैठने नहीं जा रहा हूँ।"

—"मैं इस तूफानी आदमी के साथ चला ही क्यों आया ? पता नहीं, कब चलना हो ?" सतीश के मन में आया ही था कि उसने लक्ष्य किया, भीतर थोड़े अन्तर से वायलिन के मधुर स्वर आ रहे हैं। वह तत्काल उठा और उसने चाहा कि उठकर चल दे, चाहे वही दृश्य भले ही उपस्थित हो जाय, जिसका परिचय केशव अभी दे गया है। पर तुरंत उसने देखा, केशव के साथ एक लड़की आ गयी है। वय बारह के लगभग। देह पर केवल एक रेशमी कुरता और सलवार। कंधों पर जानु पर्यन्त फहराता झीना दुपट्टा। कटि के नीचे तक लटकती हुई गुँथी वेणी, पैरों में दिल्ली की सुनहरी कामदार जूतियाँ। हीरे के रिंग कानों में चमक रहे हैं। आते ही नमस्कार करती हुई उस कुर्सी के पीछे जा खड़ी हुई, जिसपर केशव आसीन होगया था। तत्काल पीछे

हाथ करके उसका हाथ पकड़कर और थोड़ा आगे खींचकर केशव ने परिचय दिया—"इसका नाम हीरन है।"

पर सतीश तब तक आत्मगत हो गया। नाम रूप के अनुरूप ही है। पीछे अपेक्षाकृत एक प्रौढ़ महिला भी आ उपस्थित हुई। अत्यन्त महीन श्वेत साड़ी उनकी सुगठित देहलता पर शोभन प्रतीत होती है। लावण्य किंचित् निद्रित-सा है। सिर की माँग और कुन्तल राशि इतनी सँवारी हुई है कि कहीं कोई 'किन्तु' नहीं बैठ पाता है। कञ्चुकी कुछ चुस्त अधिक है। यौवन का दर्प साड़ी के आवरण को भी भेदकर कुछ अपना परिचय दे उठता है। आते समय हाथ जोड़कर नमस्कार करते क्षण अधरों की कोर पर लालिमा कुछ फैल गयी है।

केशव ने परिचय देते हुए कहा—"श्रीमती अलका दर। और आपका परिचय अन्दर दे ही चुका हूँ।"

परिचय के अन्तिम शब्द के ठीक बाद ही अलका बोली—"नाम सुन रखा था। आज सामने पाकर बड़ी खुशी हुई।"

सतीश अनुभव कर रहा था—यह रमणी अपने भीतर कुछ ऐसा रहस्य छिपाये हुए है जो वाणी पर न आकर इसकी मुद्रा पर आ जाता है।

और हीरन कहने लगी—"श्रीमान् केशवकुमार एम०-ए० (शागो) आज कितने दिनों में पधारे हैं, माँ! जुलाई-अगस्त में तो यह हाल था कि..........।" फिर कहते-कहते रुक गयी और

मुस्कराती हुई बोली —"दरवाजे की धूल कुछ अधिक साफ़ रहने लगी थी।" और रूमाल मुँह से लगा लिया।

"तो यह बात है !"—सतीश के मन पर एक निश्चय-बिन्दु बैठ गया, सोचने लगा–"पर क्या यह उचित है ? उचित-अनुचित का विचार न भी करें, तो भी क्या यह स्वस्थ है ? या इसमें जो परिहास है उसमें किंचित् आलोचन भी है।"

सतीश ऐसे समाज में पला है जहाँ वयःसन्धि-प्राप्त नवयुवकों और नवयुवतियों में इस प्रकार की स्वतंत्रता वर्जित मानी जाती है। किन्तु सख्यभाव का निर्मल, विशुद्ध परिहास होकर यह कुछ बुरा तो नहीं जान पड़ता ; क्योंकि हीरन है तो अभी कली ही।

हीरन कथन के पूर्व केशव के पीछे से हटकर माता के पीछे चली आयी थी और केशव कथन के बाद सोफ़ा से उठकर बराण्डे में चला गया था। क्षण भर में सिगरेट की टुकड़ी बाहर फेंक, द्वार के दोनों ओर खिंच, साठ अंश का कोण बनाते हुए झब्बेदार परदों के नीचे खड़ा होकर कहने लगा—"अच्छा, मैं तो अब चलूँगा, मुझे एक आवश्यक काम याद आ गया है।" और कहते क्षण वह हीरन की ओर देखने लगा, जैसे उसी को सुनाने के लिए कह रहा हो।

"तू बड़ी ढीठ हो गयी है हीरन !"—कहती हुई अलका ने उसके सिर पर हाथ लेजाकर उसका हाथ पकड़ लिया, बोली

—"बड़ों के सामने भला कोई इस तरह बात करता है ?" और हाथ से अपने पास खींचती हुई कहने लगी,—"इधर आकर ठीक तरह से बैठ !"

हीरन ने माँ का हाथ छोड़ दिया। फिर थोड़ा मुँह बनाकर मानो आदेश की उपेक्षा करती हुई वह बोली—"हम यहाँ बड़े मजे में खड़े हैं। बड़ों के बराबर बैठना मना है। ऐसा वेद का वचन भी है।"

सतीश हीरन के मुख से शिष्टाचार की कठोर सीमाओं के प्रति वेदवाणी की कल्पित दुहाई सुनकर हँस पड़ा। हीरन यह देख उत्फुल्ल हो उठी कि उसका उत्तर सतीशजी को पसंद आया। खिलखिलाती हुई पूछ बैठी—"अच्छा बतलाइए, किस क्लास में हूँ ?"

सतीश ने देखा, केशव जिस आदमी के साथ फाटक की ओर जा रहा है, वह बगल में कपड़े से ढका हुआ वायलिन-सा कुछ दबाये हुए है। फिर उधर से ध्यान हटाकर उसने उत्तर दिया—"उमर के ख्याल से नवें में, प्रकृति के विचार से सातवें में और ज्ञान के विचार से दसवें में।"

हीरन बोली—"आप वास्तव में विद्वान् हैं। मैं आपको पुनः नमस्कार करती हूँ।" और कथन के साथ वह माँ के पास जा बैठी। उसकी मुद्रा इस समय अपेक्षाकृत गंभीर हो गयी थी। उसके कपोलों की लाली कुछ गहरी जान पड़ती थी।

सहसा केशव ने प्रवेश किया और आते आते वह कहने लगा --"आपको देर तो नहीं हो रही है महात्मा जी !"

सतीश ने लक्ष्य किया, केशव ने ठीक अवसर पर लक्ष्य-वेध किया है, और विमल हास के साथ उत्तर दिया—"नहीं वत्स ! देर का कोई प्रश्न नहीं है !" और वह उठने का उपक्रम कर ही रहा था कि अलका बोली--"आप तो पड़ोस ही में रहते हैं। देर भी हो जाय तो पहुँचते देर न लगेगी। फिर अभी आपका कुछ स्वागत-सत्कार भी........।"

वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि दासी दो तश्तरियों में आम ले आयी।

आतिथ्य-भार से संकुचित सतीश बोला—"यह आपने क्या किया ? मैं तो अभी एक मित्र के यहाँ से चाय और उसकी कम्पनी को स्वीकार करके आ ही रहा हूँ ।"

और मृदुल सरलता से अलका कहने लगी-"बरफ से तर किये हुए हैं। आपको पसन्द आयेंगे।"

और केशव हीरन की तरफ दृष्टि-क्षेप करता हुआ बोला-"मैं इस समय आम-वाम कुछ नहीं खाने का।"

तब मुस्कराहट रोकती हुई हीरन कहने लगी-"राशनिंग के कारण चीनी आजकल इतनी कम मिलती है कि मैंने फरमायशी चाय पिलाना बन्द कर दिया है।" और कथन के बाद उसने होंठ दबा लिये।

वात्सल्य, परिहास और आकर्षण। सौंदर्य के आघात और शिष्टाचार में संघर्ष। निश्चल सरलता से मन्दहास झलकाती अलका बोली—"इतना रमिया जानती है कि हमारे किस अतिथि के लिए कौनसी चीज बनानी होती है।"

जेब से रूमाल निकाल कर मुँह और विशेषकर आँखें पोंछता हुआ केशव बोला—"मैं इस समय चाय भी नहीं पी सकता।"

और अलका ने हीरन के कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"देख तो, देर क्यों हो रही है?"

हीरन भीतर चली गयी। जाते समय साधारण रूप से घूमने के बजाय वह इस तरह घूम गयी कि पीठ पर पड़ी चोटी एक बारगी लहर खाकर, कटि में लगकर, रोमन लिपि की (I) आई बन गयी। चंचलता और अल्हड़ता की यह क्रीड़ा देखकर सतीश फिर किसी दूर देश में जा पहुँचा।

(४)

इतने में रमिया भागती हुई आकर बोली—"माँ जी, बड़ा अनरथ हो गया।"

अलका घबड़ाकर उठती हुई बोली—"क्या हुआ?"

भीतर से एक मन्द क्रन्दन-ध्वनि सुन पड़ी। रमिया हाँफती हुई विश्रृंखलित भाषा में बोली—"बिल्ली ने एक लाल को चबाकर ख़त्म कर दिया!"

चप्पलों और जूतों की धमक। एक दालान, फिर जीना, बायीं ओर बगल में छूटा हुआ एक कमरा। सामने खुली छत। उसके पश्चात् बराण्डा। चार लाल पिंजड़े के अन्दर। एक दुबका हुआ बैठा है। दो इधर-उधर फुदक रहे हैं और एक तीलियों में चोंच मार रहा है। नीचे मृतप्राय एक लाल पड़ा छटपटा रहा है। गर्दन में दांत धँस जाने से घाव हो गया है। उस पर रक्त छलछला आया है। दूसरा दांत पंख के मूल में लगा है और उसके कारण वह पंख उस स्थान से उखड़कर उलट गया है। उसकी लाल चोंच भूमि की ओर नत होकर रह गयी है।

रमिया कह रही थी—"जिस समय मैंने देखा, उस समय बिल्ली पहिले बायीं ओर के कमरे से इधर आ रही थी। उस समय उसकी चाल मन्द थी। फिर झट से जो मैंने पिंजड़े की ओर देखा तो पलक मारने में जितनी देर लगती है, बस उतनी ही देर में बिल्ली ने इसे दबोचना चाहा। उस समय मेरे हाथ में यही संडसी थी, सो मैंने उसको मार दी। संडसी उसके पैर में लगी, तब तक मैं पास आ गयी। बिल्ली का वह पैर भी चोट खा गया है।"

आते समय सतीश ने केशव की ओर देखा—उसके मुख की वह श्री खो गयी है।

उसपर पुत गयी है, दुःख की एक म्लान-छाया। वाणी मूक है। नेत्र स्तब्ध। एक ओर स्थिर मूर्तिवत खड़ा है, जैसे जड़

बन गया है। जान पड़ा, इस घटना ने उस पर प्रभाव डाला है। किन्तु फिर प्रश्न उठा, कैसा प्रभाव ? क्या वह सोच रहा है कि जीवन की यही गति है ? अथवा वह सोच रहा है कि निर्बल सबलों के लिए सदा भोज्य बनता आया है। माना कि बिल्ली ने निरीह पत्ती की जान ले ली, जो अभी दस मिनट पूर्व इस सृष्टि के लिए शोभा और आकर्षण की वस्तु थी; किन्तु फिर बिल्ली के उदरपोषण की व्यवस्था क्या हो। आखिर उसकी भूख भी तो एक जीव की भूख है ? फिर जान पड़ा उसकी अनुशोचना के उत्तरार्द्ध का यह वैज्ञानिक समाधान प्रकृति-मूलक जड़वाद नहीं, जीवन की क्षण-भंगुरता का यथार्थ स्वरूप है।

सतीश बोल उठा—"जीवन के इन दोनों क्षणों का यही अन्त है। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो इसमें अन्तर डाल सके, और इन्हीं दो क्षणों का उपयोग हम किस जड़ता और निर्ममता के साथ करते हैं।"

किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। अलका उसकी ओर ससम्मान उन्मुख हो उठी। सतीश ने लक्ष्य किया अलका की मुद्रा में विशेष नहीं झलक रहा है।

इसी समय केशव ने निःश्वास लिया और सतीश बोला—"अब मुझको तो आज्ञा दीजिए।"

केशव वहीं ठहर गया। अलका उस समय चाय के लिए

आग्रह न कर सकी। सतीश बाहर चलने लगा तो अलका उसके पीछे हो ली।

हीरन रूमाल से आँसू पोंछती हुई खड़ी थी।

× × ×

और तब उसी हीरन को इस शरणार्थी अवस्था में देखकर सतीश की पलकें भीग गयीं। आँखों से आत्मा का रस टप-टप गिरने लगा।

लिली

उस मंडली में कुल चार व्यक्ति थे। पीताम्बर प्रोफेसर था, कमलाशंकर कवि। तीसरा एक आफिस में क्लर्क था, चौथा एक जमींदार। क्लर्क और जमींदार कमलाशंकर के साथ-साथ उसके घर से आये थे। प्रोफेसर बाजार में अकस्मात् मिल गया था। रेस्तोराँ में, एक गोलमेज को घेरे हुए, ये लोग इस समय की चाय की प्रतीक्षा में बैठे हुए थे।

यह मंडली हाल के दक्षिणी भाग में, पूर्व के कोने में थी। इससे थोड़ी दूर पर एक गोलमेज को इसी तरह घेरे हुए, और भी कुछ लोग बैठे हुए थे, संयोग से वे भी चार ही थे। एक बुड्ढा था, जिसकी मूछें तक सफेद हो चुकी थीं। वह पुराने ढंग का एक चश्मा लगाए हुए था। उसका पायजामा बहुत मोटा एकदम थल-थल! उसका गाउन था तो कुछ पुराना, लेकिन कीमती मालूम होता था। मूछों के स्थान पर, उसके मुँह में भी कुछ भूरे लोम उग आये थे। तीसरी एक युवती थी। उसकी नाक पर एक सुनहले फ्रेम का चश्मा चढ़ा था। उसके दोनों गोरे-गोरे मांसल बाहु स्कन्ध पर्यन्त अनावृत थे। चौथा था,

एक युवक। वह इस युवती का भाई मालूम पड़ता था। ये सब लोग कमलाशंकर से पहले आये थे।

ब्वाय ने चाय की ट्रे कमलाशंकर के आगे रख दी, तो वह अपने साथियों के लिए चाय तैयार करने लगा। प्रोफेसर उसका सहपाठी रहा है। विद्यार्थी-जीवन के अनेक वर्ष उसके साथ बीते हैं। उन्हीं दिनों की कुछ बातों की धुँधली स्मृतियाँ उसके मानस-पट पर कभी-कभी उतर आती हैं।

इधर यह युवती कमलाशंकर को जानती है। उस पर उसकी एकान्त श्रद्धा है। उसकी कुछ कविताएँ उसे बहुत प्रिय हैं। अतएव कमलाशंकर के आने के क्षण से ही चाय पीती हुई, वह कभी-कभी उसकी ओर भी कनखियों से एक उड़ती हुई दृष्टि डाल देती है।

अकस्मात् बुढ़िया ने कमलाशंकर के पास वाले व्यक्ति (प्रोफेसर) की ओर देखते ही पति की अँगुली छूकर, धीरे से एक संकेत के साथ, कह दिया—देखो, जान ज़रा उधर देखो। उस दिन उस पुस्तक में जो तसवीर दिखला कर तुम उसका मज़ाक उड़ा रहे थे, इस व्यक्ति का मुख उससे कैसा मिलता-जुलता है।

"हाँ-हाँ, अरे सचमुच!" कह कर बुड्ढा और बुढ़िया, दोनों के दोनों कहकहा लगा कर हँस पड़े!

युवक जो अभी तक प्याले की अत्यधिक गरम चाय को

प्लेट में छोड़ने की सावधानी में लीन था, बोल उठा—क्या बात है, पापा ? मुझे भी बताओ।

लेकिन न तो बुढ़िया का हँसना अभी कुछ मन्द हो सका था, न वृद्ध का। इसलिए युवक का प्रश्न चुपचाप, हाथ बाँधे, खड़ा का खड़ा ही रह गया।

बात यह थी कि प्रोफेसर, जो कमलाशङ्कर के निकट बैठा हुआ था, अपनी अत्यधिक लम्बी नाक के खुजलाने में लगा हुआ था। उसकी अचकन के बटन, जो काले पड़ गये थे, पालिश के परिचय से अपनी स्पष्ट अनभिज्ञता प्रकट कर रहे थे, और कालर का ऊपरी भाग तो इतना मैला हो गया था कि दर्शक का ध्यान उसकी ओर अनायास चला जाता था। बाँये हाथ से छड़ी की मूठ को वह अब भी दृढ़ता के साथ ग्रहण किये हुए था, यद्यपि चाय का प्याला उसके सामने आ चुका था।

किन्तु निकटवर्ती अट्टहास से ज़रा भी प्रभावित न होकर, इसी समय, कमलाशङ्कर ने अपने उस प्रोफेसर मित्र की ओर देखते हुए, सम्यक् आर्द्र भाव से कह दिया—कितने वर्षों के बाद.........!

जग उसके हाथ में था और उसकी टोंटी से गिरती, झल-झलाती हुई पीली और कत्थई मिश्रित वर्ण की चाय की गरम धार, छल-छल स्वर के साथ, प्याले पर गिर रही। उसकी मुद्रा पर मुक्त हास जैसे फूटा पड़ रहा था—आँखें अभिनव ज्योति

से जगमगा रही थीं।

प्रोफेसर बोले—हाँ, सचमुच कमलाशङ्कर, बहुत दिनों बाद मिलना हुआ।

सब ने क्रम-क्रम से अपना-अपना प्याला होठों से लगाया। कमलाशङ्कर दो घूँट चाय कण्ठगत करने के अनन्तर बोल उठा—

"इस बीच में आप मुझे कई बार याद आये। मालूम नहीं किस-किस प्रसंग से। लेकिन प्रत्येक बार मैंने यही सोच कर अपना समाधान कर लिया कि यह सब व्यर्थ है क्योंकि जो स्मृति आवश्यकता को लेकर जागृत होती है, आत्मीयता के साथ उसकी कैसी निकटता ?"

अब उसके मुख पर प्रसन्नता से ऊपर उठ कर आई हुई वह दीप्ति न थी। वे आँखें जो कुछ क्षण पहले अतिशय उत्फुल्ल हो उठी थीं, दोनों किनारों में मानो कुछ और अधिक फैल गई थीं।

प्रोफेसर·····कालेज में अर्थशास्त्र पढ़ाता है। महीने की पहली तारीख को, घर पहुँचने पर, तीन सौ रुपये का चेक जेब से निकाल कर अपनी प्रियतमा को दिखलाता हुआ वह प्रायः आप-ही-आप खुश हो लेता है किन्तु पत्नी जब उस चेक को उलट-पुलट कर देखने लगती है, तो प्रोफेसर हिसाब लगा कर बतलाता है—अभी···हज़ार ही तो जमा हुए हैं। इसलिए इसमें से ख़र्च करने के लिए, केवल सौ रुपये मिलेंगे।

वही प्रोफेसर यहाँ बगलें झाँक रहा है। कभी इधर देखता है, कभी उधर। सोचता है कि कहाँ आ फँसे। अजीब झक्की आदमी है, हालाँकि कवि है। हर बात के साथ कोई-न-कोई गुत्थी या समस्या सामने रख देता है और तफ़रीह के वक्त इस तरह की बे-सिर-पैर की बातों का उत्तर भी दिया जा सकता है ?

इसी समय प्रोफेसर प्लेट में से टोस्ट उठाकर दाँत से इस तरह काटने लगा कि बनावटी दाँतों का वृन्द मानो एकमत हो कर, कुलबुला कर, उसके हाथ में आ पड़ा। गनीमत इतनी ही थी कि हाथ मुँह के पास ही था नहीं तो वह टेबिल पर आ गिरता।

इसी समय दूसरी मंडली में से वह बुढ़िया हँसती हुई धीरे से बोली—"अरे अरे, देखो, इधर देखो जान, इधर।" और फिर दोनों के दोनों अट्टहास करने लगे।

दाँत प्रोफेसर के मुँह में कुछ ढीले हो गये थे। सिर नीचा कर के उसने उन्हें फिर यथा स्थान फिट कर लिया।

पापा और ममी का यह अट्टहास युवती के लिए कुछ अप्रीति-कर हो रहा था। वह बराबर कमलाशङ्कर की गुरुगम्भीर मुद्रा को देख-देख कर उसके आन्तरिक जीवन की बात सोचने लगती थी। अभी थोड़े ही दिन हुए, इनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। वह कई मास से बीमार थी। उसकी चिकित्सा भी उचित रूप से न कर सके। आज का साहित्य-जगत्, विशेष रूप से अपने

इस अभागे देश का, इन साहित्यकारों को देता ही क्या है? फिर भी इन लोगों को अपना जीवन, प्रायः समाज के उच्च वर्ग के साथ बिताना पड़ता है।

इसी समय युवती ने लक्ष किया—उसी क्षण एक, दो, तीन—अरे-अरे—पूरे पाँच व्यक्ति और कमलाशङ्कर के पास आ डटे।

"आख्खा कमलाशङ्कर जी हैं! तो यह कहो कि ऐन मौके पर आया!" उसके एक पत्रकार मित्र बोल उठे।

"आप आज मु-मु-मु मिले खूब।" उसके एक समालोचक मित्र ने पुलकित होकर कहा।

तीसरे एक साधारण श्रेणी के नागरिक हैं और शेष दो··· इत्यादि।

भीतर से अस्थिर किन्तु ऊपर से प्रसन्नता झलकाते हुए कमलाशङ्कर ने कह दिया—आइये।

ब्वाय ने कुछ कुरसियाँ वहाँ और रख दीं। कमलाशङ्कर ने उसे इन सब व्यक्तियों के लिए भी चाय-टोस्ट लाने का आदेश कर दिया।

कमलाशङ्कर अब मौन है। कभी-कभी एक-आध घूँट चाय पी लेता है। जब वह अपने आवास से चला था, तब उसकी जेब में एक रुपया और चार आने पैसे थे। उसने सोचा था, आवश्यकता पड़ने पर फुटकर खर्च के लिए काफी है। किन्तु

घूमता हुआ वह चला आया बाजार और मिल गये उसके ये मित्र लोग, फिर यह प्रोफ़ेसर, जो किसी समय उसका सहपाठी रह चुका था। उसने सोचा—लेकिन इससे क्या, पैसे पूरे पड़ ही जायँगे। चिन्ता करने की ऐसी कौन-सी बात है?

—"परन्तु यदि कल भी कोई प्रबन्ध न हो सका, तो मकान....?"

प्रोफ़ेसर इसी समय प्रमोद-संश्लिष्ट होकर बोल उठा—

ठण्डी चाय, सुना है कि, चेहरे पर ब्यूटी यानी सौन्दर्य बढ़ाने का विशेष गुण रखती है।

"ब्यूटी यानी सौन्दर्य"—तुमने सुना विक्टर?" दूसरी मंडली में युवती ने संकेत करते हुए, मन्द हास के झकोर में इस तरह कह दिया कि आफ़िस क्लाक के पेण्डुलम-से गोल चमकते, झलमलाते, उसके इयरिंग डोलने लगे। विक्टर ने जब प्रोफ़ेसर को देख लिया, तो वह युवती—लिली—कहने लगी—सूत्र के साथ भाष्य भी आपका चलता रहता है!

फिर एक कलहास!

इधर कमलाशङ्कर अप्रतिभ हो गया, किन्तु कुछ बोला नहीं; केवल प्रोफ़ेसर की ओर देखता रहा। उसके नवागन्तुक मित्र लोगों के लिए चाय आ चुकी थी। सभी चुसकी ले रहे थे। समालोचक जी से बिना कहे नहीं रहा गया। बोले—"द् द् देखिये क्-क् कमलाश-श-शंकर जी, च्-च्-च्-च् चीनी

मुझे क्-क्-क् कम जान पड़ती है।"

उसके इस वाक्य के पूर्ण होने में उसकी मुद्रा के सम्बन्ध से कितने दृश्यों का पट-परिवर्तन हुआ, उसके अप्रत्यक्ष रूप में स्वतः स्फुटित विदूषक को कितनी सफलता मिली, वह क्या जाने, किन्तु उस रेस्तोरां भर के विविध समुदायों में कितने लोग एक साथ हँस पड़े, यह किसी प्रकार अप्रकट नहीं रह सका।

तो भी कमलाशंकर किसी प्रकार हँस न सका। चुपचाप अपने शुगरकप से एक चम्मच चीनी लेकर उसके प्याले में छोड़ दी।

इसी समय कुछ स्थिर होकर प्रोफ़ेसर कमलाशंकर की ओर देखता हुआ बोला—आपकी इधर हाल की प्रकाशित कविताएँ कैसी चल रही हैं।

—कैसी बताऊँ! कविताएँ यों भी जड़ नहीं हुआ करतीं, और चंचलता तो उनका एक विशेष गुण है। किन्तु आपका अभिप्राय यदि काव्य-ग्रन्थों से है, तो मैं कहूँगा कि जिसको चलना कहते हैं वैसी कोई बात नहीं है। लेकिन इससे क्या? आपके कालेज में जितने विद्यार्थी अर्थशास्त्र लेकर स्नातक होते हैं? उनमें से कितने गवर्नमैन्ट के फाईनेन्स मेम्बर होते हैं? कितने हेरल्ड लेस्की और कितने वास्तविक अर्थ में अर्थ-शास्त्री होकर स्वदेश के लिए अपने भाग का कर्त्तव्य पालन

करते हैं? तो भी निश्चय है कि आपका वेतन पहले से लगभग दूना हो गया है।

—हें हें! उदाहरण जब आप पर्सनल यानी व्यक्तिगत देते हैं, तब उसमें कुछ हलकापन झलक पड़ता है।

अबकी बार बुड्ढा और बुढ़िया के साथ वह युवक और युवती भी इस 'हें हें, और 'यानी' को लेकर अट्टहास कर उठे। किन्तु वह युवती क्षण भर के बाद फिर गम्भीर हो गयी। उसके मन में आया—यह आदमी पढ़ा-लिखा होने पर भी कितना असभ्य है?

और कमलाशंकर?

उसको चाय पीने की मुतलक़ जरूरत न थी। ऐसा बहुत आदी नहीं है वह इस कम्बख्त चाय का। लेकिन जब उसका एक पुराना साथी मिल गया, तो उसके सम्मानार्थ वह इस जलपान गृह में चला आया। फिर साथी लोग जो चार के नौ भी हो गये, तो वह पीछे क्यों हो? लेकिन इसके क्या मानी? यह प्रोफ़ेसर है और तीन सौ रुपये महीने की उसकी आय है, तो क्या इसका अथ यह हुआ कि यह कोई देवता है? क्या यह वन्दनीय है? और क्या उसे यह अधिकार प्राप्त है कि किसी कलाकार पर हलकेपन का आरोप करे? क्या प्रोफ़ेसर होकर भी वह सभ्य बन सका है? और माना कि वह था कभी उसके बचपन का साथी, तो भी क्या वह उसका आज

का मित्र कहलाने का अधिकारी रह गया है ?

इसी समय बुड्ढा अपने परिवार के साथ चल खड़ा हुआ। वह अब कमलाशंकर की मेज के निकट से आगे बढ़ता जा रहा था कि लिली ने संकेत से उसे रोक लिया। कमलाशंकर से अभिवादन करके, उनका परिचय देती हुई, वह बोली—पापा, यही श्री कमलाशङ्कर- हमारे आज के युग के एक श्रेष्ठ कवि—हैं ! भाषा के धनी और भावों के रत्नाकर।

कमलाशंकर उठकर खड़ा हो गया। उसके साथ अन्य साथी भी। किन्तु प्रोफ़सर तब भी बैठा ही रहा।

क्रम-क्रम से जान विमलदास, उसकी बुढ़िया, फिर विक्टर ने कमलाशङ्कर से हाथ मिलाया। जान दास ने हाथ मिलाते हुए कहा—आपका परिचय पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। लिली अकसर आप की कविता का जिक्र किया करती है। यद्यपि मुझे साहित्य की अपेक्षा अपने धर्म-ग्रन्थों से अधिक-दिलचस्पी है; तो भी मुझे आपकी कविता में शैली और कालरिज का चाम झलकता हुआ जान पड़ा।

कमलाशंकर ने होठों पर जरा-सी मुस्कराहट लाकर कह दिया—आपका यह आदरभाव पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

जान दास बोला—हम लोग बंगाली क्रिश्चियन हैं और यहाँ हेमिल्टन रोड पर ट्वेंटी फोर सी० नम्बर के बंगले में रहते हैं। किसी दिन वहाँ दर्शन देने की कृपा करें, तो कितना आनन्द

आये ! क्या आप कल सायंकाल पाँच बजे मेरा चाय का निमंत्रण स्वीकार कर कृपापूर्वक आ सकेंगे ?

पुलकित होकर कमलाशङ्कर ने उत्तर दिया—अच्छी बात है। मैं आऊँगा।

चलते हुए फिर जान, उसकी बुढ़िया और विक्टर ने कमलाशङ्कर से हाथ मिलाया, किन्तु लिली ने हाथ जोड़कर ही उसका अभिवादन किया।

सब लोग जब बाहर चले गये, तो कमलाशंकर बैठ गया। उस क्षण उसके सभी मित्रों ने एक साथ उसकी ओर देखा।

किन्तु बाहर जाकर लिली फिर तुरन्त लौट आई। पापा से उसने कह दिया—मैं अभी आई पापा। और मैनेजर की ओर जाकर क्षण भर बाद, वह फिर तुरन्त लौट गयी।

प्रोफेसर, पत्रकार, समालोचक, वह जमींदार सब के सब उसे देखते रह गये। कमलाशंकर चुपचाप बैठा था। वह कुछ कहने की स्थिति में नहीं था, तो भी हृत्कम्प की-सी दशा में उसने कह ही दिया---कभी-कभी मैं अपने आपको सम्हाल नहीं पाता---जो कहना चाहता हूँ, उसे कह नहीं सकता।

तब साश्चर्य प्रोफेसर बोल उठा—आप ! अरे आप ! जब कि आप कवि हैं !

कमलाशंकर फिर गम्भीर हो गया। उसके मन में आया कि वह उसके पास से उठकर चल खड़ा हो; क्योंकि न तो वह

उसका असम्मान कर सकता था, न उसकी बातों का वैसा कठोर उत्तर देना चाहता था, जैसा उसके लिए उचित था।

समालोचक ने इसी समय पूछ दिया---आपका पूप् परिचय ?

कमलाशंकर जब तक कुछ कहें, तब तक प्रोफेसर स्वयं बोल उठा–मैं...कालेज में अर्थशास्त्र का प्रोफेसर हूँ।

समालोचक ने मुस्कराकर कह दिया—तभी !

कमलाशंकर के गम्भीर मुख पर फिर मन्द-हास फूट पड़ा।

लोग चाय पी चुके थे। कमलाशंकर बिल की प्रतीक्षा में था। किन्तु देर देखकर वह स्वयं मैनेजर के पास जा पहुँचा। बोला— आपने बिल नहीं भेजा, मैं प्रतीक्षा में बैठा रहा।

मैनेजर ने विनयपूर्वक कह दिया–उसका पेमेण्ट---डेढ़ रुपया–एक मिस साहब अभी कर गया है। ओ बोला ओ बहुत बड़ा पोयट है। उससे बिल का पेमेंट मत लेना।

तब अपने जेब में पड़े केवल सवा रुपये की बात सोचकर कमलाशंकर स्तम्भित हो उठा !

और लिली ?

यदि

रजनी आज कुछ अस्थिर हो उठी है। अब तक वह समझती थी कि जो उसकी अपनी निधि है, कोई उसको छू नहीं सका है। वही एक इसमें समर्थ है कि चाहे उसे चुपके से छिपाकर रखे, अथवा अक्षय स्रोत मानकर निरन्तर स्नेहांजलियों से उलीचती ही रहे। वह कभी रिक्त होने वाला नहीं है; और ऐसा भी नहीं है कि उसकी ओर वंकिम भ्रूक्षेप करने की भी किसी की सामर्थ्य हो। वह सोचती थी, जो उसके अन्तराल में छायातल-सुषुप्त श्रमित पथिक की भाँति सोया हुआ है, वह उसे प्राण-रूप में ही मिला है। वही उसका अपना जीवन है--उसकी एक मात्र मृदुल आशा-वल्लरी। उसे प्रतीत हुआ था—उसके अनन्त जीवन का, चेतना के चरम अकल्पित सुख का, विश्व के सीमाहीन उल्लास का वही एक मानसर है। किन्तु अब उसे यह भी समझना पड़ रहा है कि वह तो उसकी निरी मृग-तृष्णा थी —पिपासाकुल प्राणी की लोल-लिप्सा। उस के समक्ष असीम अन्धकार मूर्तित-सा हो उठा। उसे ऐसा भान हुआ कि कहीं भी उसकी गति नहीं है, उसके पदतल का आधार

अकस्मात् मानो भूकम्पमुखी भूमि की भाँति ध्वस्त हो पड़ा है :

बड़ी रात को जब प्रकाशचन्द्र घूम-घामकर लौटा, तो उसे रजनी की कहीं छाया भी न देख पड़ी। उसने सोचा—कहीं बातचीत करती होगी। मां, भाभी, बहिन—सभी में वह अनुप्राणित जो रहती है। वह अपने कमरे में चुपचाप लेट रहा।

इधर रजनी अपने कमरे में अन्धकार किये हुए, चुपचाप, स्थिर गतिसे, लेटी हुई है। उसके मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठ रहे हैं।

"क्यों वह ऐसी परवश हो गयी, उसके जीवन का पल-पल क्यों उनकी मुट्ठी में चला गया, अपने आपको उसने ऐसा अस्तित्वहीन कैसे बना लिया! आज के इस क्षण में, यह विराग, वितृष्णा का यह आरोह-अवरोह, जो यह अपने में पा रही है, क्या वह केवल इन्द्रजाल है?—क्या उसके मूल में किसी प्रकार की प्रवंचना नहीं है?"

यह सब वह अपने आपसे पूछती है। पर उसके ये प्रश्न उसी प्रकार उसके हृत्तल तक आ-आकर लौट जाते हैं, जैसे किसी ने उसके प्रशांत मानस में एक कंकड़ी छोड़ दी हो और तरंगमालिकाएँ उसके चारों ओर, एक छोर से दूसरे छोर तक, जाकर विलीन हो गयी हों।—जैसे उसकी विपंचिनी के एक तार को, अज्ञात रूप से, दुर्निवार संयोग के चञ्चल कर ने इस बुरी तरह से छू दिया हो कि उसके अवशिष्ट तार भी,

अपने आप ही, एक साथ झंकृत हो उठे हों।

किन्तु रजनी तो अब नारी है न। क्या वह अब भी ऐसी निरी भोली लड़की है कि जो कोई भी चाहे, उसके मुख पर हलकी-सी चपत लगा दे और मुँह बनाकर कह उठे…"दुत् पगली, ऐसा भी कहीं होता है!" तो क्या आज ही वह यह समझ पायी है कि रजनी अब रज्जो नहीं है?—और अब वह अपने अखिल अर्थ में नारी है। तब क्या वह अभी तक सोती ही रही है? क्या यह प्रभात ही हुआ है उसके नारीत्व का, और अभी-अभी उसने उठकर अपनी उनींदी आँखें खोली हैं?

अरी वाह! अच्छी है तू भोली रजनी, जिसने आज—और सो भी अभी—जान पाया है कि वह नारी है।

उनके कमरे में बिजली का आलोक छाया हुआ है। वे अभी सोये नहीं हैं। अभी-अभी उसने देख लिया है कि उनके निकट के अन्धकार के उस पार आलोक है। तो इसका अर्थ यही न होता है कि वे आ गये हैं और फिर कहीं गये भी नहीं हैं; इसी कमरे में हैं?—ज़रा भी नहीं सोये हैं और शायद जग ही रहे हैं? अच्छा, माना कि जग रहे हैं, तो? केवल जगने से ही क्या होता है? मैं भी तो जगती हूँ। और मैं ही क्यों, जगत् में न जाने कितने प्राणी जगते हैं!

इसका कुछ भी अर्थ नहीं होता!

तो रजनी के इस क्षण में जागरण भी अर्थहीन हो गया है।

जगत् की निर्ममता ही जिसका प्राण है, उन्मीलन ही जिसकी मूर्त काया; उत्थित प्रेरणा ही जिसकी गति है और प्रकाश ही जिसकी लीला-भूमि ऐसा समुज्ज्वल और सकर्मक जो जागरण है, वह भी रजनी के इस क्षण में कैसा अनाश्रित हो पड़ा है !

प्रकाश रात को बड़ी देर से आने के मर्म और विधान को रजनी के समक्ष ज्योतित नहीं करता।

और रजनी चाहती है कि प्रकाश जब उसी का है, तब वह अपना कोई प्रकरण, इतना छिपाकर, तह करके क्यों रखे ? उसमें पर्त हों, तो बने रहें; पर वे पर्त भी उसके लिए इतने अस्पर्श्य क्यों रहें ?

इसके सिवा एक बात और है। प्रकाश इस प्रकार रजनी के लिए नवीन भी तो बन रहा है। एक दिन था कि वह रजनी से पृथक् अपने को देख भी नहीं सकता था। उसके जीवन का क्षण-क्षण रजनी के बिना शून्य हो उठता था ! और आज वही प्रकाश है और वही रजनी है ; किन्तु रजनी के लिये न वह प्रकाश है और न प्रकाश के लिए वह रजनी !

तो यह अविधान क्यों है ?—यह अपहरण, यह पार्थक्य, यह उपेक्षा और यह विच्छेद किसलिए है ? रजनी आज यह सब स्पष्ट कर लेना चाहती है।

❀ ❀ ❀

प्रकाश लेट तो रहा था ; पर उसे आज निद्रा नहीं आ रही

थी। वह चाहता था कि रजनी उसके निकट हो, तो वह उसको और भी निकट से देखे।—उससे कुछ बातें करे और उसका मन्तव्य अपने मन के घाट पर उतार कर उस तट तक ले जाय, जहाँ उसकी चरम निष्ठा का वास है—जहाँ न कोई अपना है, न बेगाना; और जहाँ सभी अपना है और सभी बेगाना। वहाँ राग ही राग है, और विराग भी है तो राग में ही समाया हुआ। वहाँ अगाध भी क्षुद्र होकर हाथ बाँधे खड़ा है। वहाँ केवल उत्सर्ग होना होता है। वहाँ कुछ ग्रहण नहीं किया जाता, कुछ उपलब्ध नहीं होता। ईप्सा के लिए वहाँ प्रवेश-निषेध का विधान है—कामना वहाँ आकर मूक बन जाती है।

प्रकाश ने अपने जीवन को हथेली पर रख छोड़ा है। न तो वह जीवन को क्षण-भंगुर समझता है—न जीवन का मूल्य उसके लिए कभी नगण्य हुआ है। तो भी वह जीवन के साथ खेलने लगा है। हथेली के उस केन्द्र पर, जहाँ उसका जीवन साकार होते हुए भी निराकार होने जाता है, उसकी दृष्टि स्थिर है—अचञ्चल, निस्पन्द। इसीलिए आज वह चाहता था कि उसकी रजनी, उसके जीवन के खेल को देख ले। वह देख ले कि उसका जो अपना है, वह कहाँ अपना है और कहाँ वह अपना भी नहीं है। वह यह भी समझ ले कि कोई भी अपना कभी-कभी अपना नहीं भी होता है और ऐसा भी है कि अपना सदा ही अपना रहता है। —कोई भी उसके अपनत्व को कभी

क्षीण नहीं कर सकता।

किन्तु घड़ी की ओर देखते-देखते उसके कितने पल उसकी अपलक दृष्टि में समाहित हो कर अन्तस्थ हो चुके हैं, यही वह सोचता रह जाता है।

उधर रजनी अपने मन-ही-मन कुछ सोच रही है।

माना कि बड़ी व्यस्तता है। यह भी माना कि अध्यापक जब कभी चिन्तक हो जाता है, तब वह जगत् को अपने भीतर देखने लगता है; किसी को भी वह भूलता नहीं; भूल कर भी किसी को वह भुला नहीं सकता। यह भी सही है कि जो उसका आत्मीय होता है, उसके साथ वह कभी अन्याय कैसे करेगा, जब कि जो कोई उसे अपना नहीं भी समझता है, उसके साथ भी वह कभी अन्याय नहीं कर सकता। किन्तु वह चिन्तक अथवा विचारक चाहे जैसा हो—उसकी व्यस्तता अन्य किसी के लिए होती भी रहे; पर वह उस रजनी के लिए क्यों हो, जिसको वह अपना प्राण बना कर रखता आया है।

❀ ❀ ❀

इसी क्षण घड़ी ने एक बजाया। और उस घड़ी का वह झंकृत स्वर एक ओर प्रकाश के कर्ण-रन्ध्रों को छूता हुआ उसकी सचेतन आत्मा में जा अटका और दूसरी ओर रजनी ने भी अनुभव किया कि विधि के अटल विधान की भाँति, मिश्रा की मध्यवर्तिनी का, एक बजने का यह क्षण भी, मानो उसके

साथ वाक्छल कर उठा है। तब रजनी के मन में आया कि वह ऐसी विवश-विपन्न क्यों बने? ऐसी क्या बात है जो वह स्वामी से उसकी इस तटस्थता का उत्तर न चाहे? अधिकार के प्रति उदासीन होने योग्य उसकी स्थिति जब अभी तक किसी प्रकार नहीं हुई है तब अपनी प्राणकाया को संभाल कर रखने में ऐसा कौन-सा अविवक्षित उपक्रमण है, जिसके लिए वह अपने में ऐसी दुर्धर पीड़ा पा रही है। किन्तु इसी पल में रजनी के भीतर का नारीत्व हुङ्कार कर कहने लगा—तो भी ऐसी क्या बात है जो रजनी को इसी हेतु प्रकाश के निकट जाने की अपेक्षा हो। एक तो असहनीय बात यही है कि वे इतनी देर से आते हैं और फिर भी अपेक्षित यही हो कि वही उनके निकट जाय, उनसे कैफ़ियत लेने ही सही, पर अपने स्थान से उठ कर वहां जाने की जो अनिवार्यता है, वह तो उसके जाने से क्षीण हो नहीं जाती। और उसका आक्रोश तो केवल इसीलिए है न, कि वह इस अर्थ में उसके पास जाकर ऐसी अपदार्थ और क्षुद्र क्यों बने?

परन्तु प्रकाश तो दूसरे पथ का पथिक ठहरा। कर्तव्य की अबाधता ही जिसके जीवन की गति है, बढ़ते ही जाना जिसके पल-प्रतिपल के श्वास-प्रश्वास का चिरस्थायी सम्व्रत, वह प्रकाश अपने मन में ऐसी अन्यथा की संस्थापना क्यों करे? निकट के कमरे में जाकर उसने स्विच दाब दिया। फिर क्या था,

प्रकाश के सामने प्रकाश ही प्रकाश फूट पड़ा।

इस क्षण में रजनी चाहे तो विजयिनी होने का गर्व अपने में पा सकती है। वह चाहे तो सो जाने की अपनी चेष्टा बनाकर प्रकाश के आगे निर्लिप्त और निर्विकार रूप में भी अपने को उपस्थित कर सकती है। परन्तु उसी क्षण उसकी यह क्या दशा हो गयी कि वह पर्यंक पर से उठकर बैठ गयी। उसने एकाएक उनके अतलस्पर्शी मुखपर जो दृष्टि डाली, तो वह अपने-आप में ही उनके प्रति अनुवृत्त हो पड़ी।—"अरे! उनके चिरप्रफुल्ल मुख पर यह अगम्य गाम्भीर्य कहां से आकर छा गया है!" एकाएक रजनी के भीतर आया और गया—आया और गया। और तब उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे उसके मन-प्राण को कोई प्रखर नखों से नोच रहा है और तिसपर भी वह स्वामी को अपनी अनुगति नहीं दे सकी है।

रजनी का हृदय पीपल-पल्लव के समान दोलित रहता आया है। अमन्द अनिल का एक मात्र झकोरा उसे स्पन्दित करने के लिए पर्याप्त रहा है। जान पड़ता है, पिछले पलों में उसके हृत्पत्र पर जो यत्किञ्चित् धूल आ पड़ी थी, स्वामी की एक तरल दृष्टि ने ही उसे अमल-धवल बना दिया है, तभी तो उसकी लोनी हरीतिमा से सिक्त यह शीतल छाया प्रकाश के मन-प्राण को आवृत करने के लिए आकुल हो पड़ी है।

जब तक प्रकाश उसके निकट आये-आये कि रजनी स्वयं

ही उठकर उसके निकट जा पहुँची। इकटक स्वामी की आँखों में अपने आपको समर्पित करके वह बोली—कैसे उठ आये? मैं अभी...किन्तु ऐसे चिन्तित क्यों देख पड़ रहे हो?...तबियत तो ठीक है न?"

और ऊपर की बात कहने के साथ ही प्रकाश के मस्तक पर उसका हाथ भी आ पड़ा। बोली-तबीयत तो ठीक है? फिर ऐसे गम्भीर क्यों देख पड़ते हो?

प्रकाश क्षण-भर को रजनी की उन कमलनाल-सी अँगुलियों का मृदुल स्पर्श पाकर कुछ अस्थिर हो उठा। उसके आमूल अनावृत गोरे-गोरे कमनीय बाम बाहु को करतल-गतकर, उसको अपने में समेटता हुआ-सा, अपने आवास में पहुँचते-पहुँचते बोला—बहुत दिनों से तुमको अपने निकट पा नहीं सका था। इसलिए तुम मेरे प्रति कुछ कुण्ठित हो उठी होगी, निरन्तर मैं यही सोचा करता था। फिर भी इतना अवकाश नहीं था कि मैं तुम्हारा समाधान कर सकता।

यह सुनकर स्वामी के पर्य्यंक पर दक्षिण ओर बैठी हुई रजनी सोचने लगी—इस समय ये ही अपनी ओर से यह सब कह रहे हैं। परन्तु इनके कथन में कोई भी नयी बात नहीं मिल रही है; उसमें कुछ भी तो मेरे लिए अकल्पित नहीं है। ...फिर भी ये कैसे हैं, जो अपने आप ही सब-कुछ कहे जा रहे हैं। 'अवकाश नहीं था और इसीलिए वे मुझसे मिल नहीं पाये

थे, मुझे मिश्रित नहीं देख सकते थे !' क्या इतनी बात भी मैं नहीं समझ सकती ! फिर भी ये सब कैफ़ियत की बातें अपने आप ही कहे जाते हैं—कहे जाते हैं ! हूँ-हूँ !...यह अच्छी रही !!

और उस क्षण रजनी के अधर-पल्लव थोड़े स्मित हो पड़े ।

हँसने को तो उसने स्वामी के इस चरम निर्मल और निरे भोले स्वरूपपर मन-ही-मन हँस लिया; परन्तु उसका यह कल्पित कलहास क्षण-भर भी उसमें टिक न सका । क्योंकि उसी क्षण वह सोचने लगी—और इसी अपने स्वामी के प्रति उसके मनमें काला चोर घुस गया था । तब वह अपने आप ही अपनी दृष्टि में क्षुद्र हो पड़ी । उसे स्पष्ट प्रतीत हुआ, मानो अभी तक वह रज्जो ही बनी है और प्रकाश जो उसके कपोल पर चपत लगाकर 'दुत् पगली' नहीं कहता है, सो इसका कारण यही हो सकता है कि वह उसे ठीक तरह से समझ नहीं सका है ।

प्रकाश रजनी को अपने सामने ही बैठा देख रहा है । उसका एक-एक क्षण काल के चिरविस्तृत सागर में असीम हो पड़ा है, फिर भी वह उस बात को झट से कह नहीं पाता, जिसे प्रकट करने के लिये उसे अपने निकट ले आया है ।

इस क्षण रजनी अपने तरल स्नेह से भीगी हुई वाणी में कहने लगी—तुम इतनी देर से क्यों आते हो ?

और इस कथन के साथ-साथ उसका हाथ स्वामी के वाम स्कन्द पर जा पड़ा ।

प्रकाश अपने को वज्र के समान कठोर और दृढ़ मानता आया है ; किन्तु आज वह अपने-आपको रजनी के सामने वैसा स्थिर और अचञ्चल नहीं अनुभव कर रहा है। जिस बात को वह अभी तक अपनी इस अर्द्धाङ्गिनी से छिपाकर रख सका है, अपनी चरम अनिर्दिष्ट यात्रा के इस क्षीण हो रहे क्षण में उस भयानक बात को वह उस से किस प्रकार प्रकट करे, यही वह सोचता है, पर उसकी पूर्ति नहीं कर पाता। किन्तु जब रजनी ने ही उपर्युक्त बात कह दी, तो प्रकाश जैसे अमा निशा में भी अपने सामने एक अमन्द प्रकाश पा गया। धीरे-धीरे उसने कहा—"हम लोग....एक दुस्संयोग से ही आ मिले थे !"

स्वामी का वह मुख, जो रजनी के सामने सदा पुण्डरीक शुभ्र रहता आया है, इस समय इतना आम्लान हो गया कि रजनी का हृदय हिल उठा।

तब वह अगाध विस्मय और असीम उद्वेग में डूबकर अवरुद्ध कण्ठ से कहने लगी—तुम आज यह कह क्या रहे हो !

"ठीक ही कह रहा हूं रजनी।...नहीं तो किसी प्रकार यदि मैं अविवाहित रह सकता, तो आज कितना सुखी होता !"

"तुम्हारी ये बातें मैं बिलकुल नहीं समझ रही हूं।...साफ साफ बतलाओ, बात क्या है ?"

और इसी क्षण अपने वाम कर में बँधी हुई रिस्टवाच की

और देखते-देखते प्रकाश एकदम से सावधान हो गया। कोई बार-बार उसके मन में आकर उससे कहने लगा—"तुम्हें जाना है। तुम्हें जाना ही पड़ेगा। बिना गये तुम्हारी कर्तव्यनिष्ठा कैसे जीवित रहेगी!"

और तब प्रकाश पलंग पर से उठकर खड़ा हो गया। लपककर कोट बांहों में डाला और फिर क्रम-क्रम से, दोनों पैरों में, क्रैप सोल का नया जूता पहना।

रजनी अब स्तम्भित हो उठी। उसका चरम नारीत्व मानो अकस्मात् जग उठा। पर भीतर के असीम प्यार को जैसे अपने कण्ठ की आर्द्रता में ही पुञ्जीभूत कर वह बोली—"क्या अब इस समय भी जाओगे? इस आधी रात में भी तुम्हारा काम अभी बाकी ही है? क्या उसे कल नहीं कर सकते? देखो, सुनो, मैं तुमसे प्रार्थना करती हूं, अब इस समय कहीं मत जाओ। तुम्हें मेरी कसम है।"

अपनी बात पूरी करते रजनी का वह म्लान मुख तथा उस के दोनों कर-पल्लव प्रकाश के बाम स्कन्ध पर जा पड़े। उसका स्वर भीगा हुआ था—नयनारविन्द नन्हें-नन्हें मोतियों से जड़े हुए।

इसी समय एक अविचलदृढ़ भीम भावना से, अगम गम्भीर स्वर में, प्रकाश बोला—"चलता हूं। जल्दी ही आऊंगा, यदि आ सका।"

इतना अवकाश ही अब प्रकाश के निकट न था कि वह रजनी की ओर देखता, या उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता।

और रजनी खड़ी की खड़ी ही है। ऐसा जान पड़ता है कि खड़ी ही रहेगी; क्योंकि प्रकाश जीने से उतर कर सड़क पर आ गया और चलते-चलते अदृश्य भी हो गया, तो भी रजनी छज्जे पर का किवाड़ पकड़े हुए जहाँ की तहाँ खड़ी ही रही!

किन्तु और अधिक देर तक वह उस तरह खड़ी भी नहीं रह सकी; क्योंकि थोड़े ही अन्तर से उसने देख लिया कि उसके घर को पुलिस ने चारों ओर से घेर लिया है और एस० पी० साहब प्रकाश के नाम का गिरफ्तारी-वारण्ट लिए हुए उसके सामने खड़े हैं और ऐसा भाव व्यक्त कर रहे हैं, जैसे प्रकाश को उसी ने कहीं छिपा रखा हो!

वर्ष के वर्ष बीत गये हैं; किन्तु प्रतीक्षा के दुर्गम के पथ में अब रजनी के लिए केवल एक सम्बल रह गया है। और वह है—यदि।

कौन जानता है कि इस छोटे-से शब्द की सीमा कहां है, इति कहां है?

अंधेरी रात

कमरा बिलकुल सड़क पर ही है। नीचे फ़र्शी और नेचे की दूकान है, जिस पर एक बुड्ढा मुसलमान बैठता है। उसी दूकान से लगा जीना ऊपर के कमरे को चला गया है।

उस समय रात के ग्यारह बज रहे थे और सरदी खूब सजग थी। शिवराम चुपचाप आया। सड़क के फ़ुटपाथ पर आते हुए वह थोड़ा अस्थिर हुआ। उसने इधर-उधर एक बार देखा भी और वह जीने पर चढ़ गया। अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचते समय क्षण भर को वह फिर रुका और उसका बायां हाथ दाहिने ओर की भीतरी जेब पर चला गया। फिर निर्भय होकर वह कमरे के द्वार पर जा खड़ा हुआ। उसने देखा, कमरा साधारण रूप से साफ़-सुथरा है। बिजली का बल्ब लगा है। पूरे फ़र्श पर दरी बिछी है। दक्षिण ओर गद्दा, उस पर सफेद चद्दर और उसके किनारे दीवाल से लगी मसनद के पास एक पनडब्बा रखा है। दूसरी ओर कोने में मिट्टी की एक छोटी बरोसी है, जिसमें कोयले की मन्द आग है। सफेद-सफेद

राख के भीतर ज़रा-ज़रा-सी चमकती हुई। दरी पर बैठी हुई एक मोटी अधेड़ रमणी उस पर हाथ सेंक रही है। उसके पास अधजली सिगरेट के कुछ टुकड़े पड़े हैं।

किन्तु इस कमरे में आने पर शिवराम की प्रथम दृष्टि कजली पर पड़ी। वह गद्दे पर बैठी पान लगा रही थी। दरवाजे की ओर वह पीठ किये हुए थी। पतली बारीक रेशमी साड़ी के भीतर से उसकी नागिन-सी चोटी झलक रही थी। सिर उसका खुला हुआ था।

अब वह बोला—आ सकता हूँ? कोई और बाहरी आदमी तो...?

'नहीं।'—नायिका बोल उठी—आप बेफ़िक्री के साथ आइये। इस तरफ़ आ जाइये

कजली भी घूम गई और बोली—आदाबअर्ज़।

मसनद से लगकर बैठते हुए शिवराम ने देखा—आंखें प्यारी लगती हैं। ओठों पर पान की लालिमा कुछ कह उठती है। यौवन के मद का मध्यकाल चल रहा है।

इस समय उसे देखते हुए शिवराम कुछ अस्थिर हुआ। वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहना चाहता था। पर रह-रहकर उसके भीतर धड़कन होने लगी थी। वह कजली को जितने ध्यान से देखता था, धड़कन उतनी ही तेज़ होती जाती थी।

वह अनुभव कर रहा था—उसके मुखपर एक अभिनव श्री है। देहयष्टि भी उसकी बड़ी मोहक है। ऐसी स्त्री का वह...।

'बाबू को पान खिलाओ।'—नायिका इसी समय बोल उठी।

इसी क्षण शिवराम यकायक उठकर खड़ा हो गया, तो नायिका बोली—कहिये, क्या चाहिये ?

शिवराम ने छज्जे की ओर दरवाजे पर आकर किवाड़ बन्द कर दिये। फिर वह मसनद से लगकर इतमीनान से बैठ गया। पर्स से पाँच रुपये का नोट निकाल कर उसने नायिका के आगे फेंक दिया और कहा—मैंने अभी खाना नहीं खाया है।

इस पर कजली और नायिका एक-दूसरे को देखने लगीं। नायिका जरा रुकी और अन्दर चली गयी।

शिवराम के आने से पहले कजली पान खाकर सोने जा रही थी। पर अब उसको देखकर उसकी नींद जाती रही। वह उसके निकट—अत्यन्त निकट—आकर उसे जब पान देने लगी, तो शिवराम के भीतर एक आग धधकने लगी। कजली को देखते-देखते वह अत्यन्त गम्भीर हो उठा। उसने जवाब दिया—मैं पान नहीं खाता। तब कजली उसे एकटक देखती रह गयी! स्तम्भित-सी, अवाक्-सी। क्षणभर बाद वह बोली—आखिर क्यों? और जरा-सी मुसकराहट भी उसके अरुण अधरों पर झलकने लगी।

शिवराम ने उत्तर दिया—यों ही।

इसी समय आ गयी नायिका। कजली उसकी ओर दृष्टि घुमाती हुई बोली---आप तो पान खाते नहीं।

नायिका बोली---तो मैं बाजार से पान मँगवाये लेती हूं। और इतना कहकर जब वह फिर भीतर जाने लगी, तो शिवराम ने सम्हलते हुए कह दिया---आप समझी नहीं। मैं दरअसल पान खाता ही नहीं हूं। यों मुझे आपका पान खाने में कोई एतराज न होता।

इसी समय नौकर खाना ले आया। नायिका बोली---उधर उस कमरे में। (फिर शिवराम की ओर देखकर) चलिये बाबू साहब।

शिवराम ने कजली की ओर देखा और कहा---चलो तुम भी।

कजली उठ खड़ी हुई और बोली---खाना तो मैं खा चुकी, हाँ...

शिवराम बीच में ही बोल उठा---फिर भी थोड़ा-सा खाना तो पड़ेगा ही।

कजली नायिका की ओर देखने लगी, तो उसने कह दिया---चली जा। बाबू साहब का जब ऐसा हुकुम ही है, तब इनकार करना मुनासिब नहीं जान पड़ता।

दोनों दूसरे कमरे में चले गये। वहाँ एक तख्त पड़ा था,

जिस पर एक सूती ग़लीचा बिछा हुआ था, कुछ मैला-सा, पुराना।

नौकर दो शीशे के गिलास और एक लोटा पानी रख गया। नायिका दरवाजे की ओट में खड़ी रही।

कजली बोली—मुझे ज़रा-सी बरफी दे दीजिये। और कुछ मैं न लूँगी।

किन्तु शिवराम ने उत्तर दिया—ऐसा नहीं हो सकता, तुम्हें मेरे साथ बैठकर खाना होगा। वह सोचने लगा—आज वह कोई भेद नहीं रखेगा।

कजली तब शिवराम के पास बिलकुल उसके सामने आकर बैठ गयी। जब वह उसकी ओर देखने लगता, तब तो वह अपनी दृष्टि दूसरी ओर कर लेती, परन्तु फिर उसे दूसरी ओर देखते समय उसे देखती रह जाती। उस कमरे में प्रकाश थोड़ा मन्द था; क्योंकि बिजली का बल्ब दूसरे कमरे में लगा हुआ था और उसी का प्रकाश कमरे में आ रहा था। नायिका ने आकर झट इस कमरे में बल्ब का भी स्विच दबा दिया। यकायक कमरा प्रकाश से जगमगाने लगा।

शिवराम ने कचौड़ी का पहला कौर मुँह में रखते हुए पूछा—मेरे आने से तुमको कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई?

कजली मुख नीचा करके हँसने लगी। बोली—बहुत ज़्यादा।

'तुम सोने जा रही होगी। साढ़े ग्यारह का समय है।'

कहते समय शिवराम बहुत प्रसन्न हो उठा, यह सोचकर कि वह कितने अच्छे ढङ्ग से आगे बढ़ रहा है।

कजली की स्वाभाविक प्रसन्नता तिरोहित हो गई। गम्भीर होकर वह बोली—आप का यह सोचना तो वाक़ई दुरुस्त है। लेकिन हम लोगों की ज़िन्दगी भी क्या कोई इंसान की ज़िन्दगी है।

बात कहकर वह शिवराम के मुख को एकटक देखती रह गयी। धीरे-धीरे उसे कुछ सन्देह होने लगा और उसकी हृद्‌गति तीव्र हो उठी।

शिवराम ने देखा, कजली के मुख पर व्यथा की छाप है; तब वह चुप रह गया। उसका हृदय धड़कने लगा। वह मन ही मन जैसे अपने से पूछने लगा—क्या वह अपना संकल्प पूरा कर सकेगा ?

किवाड़ पर ज़रा-सा आहट हुआ। शिवराम सोचने लगा—वह खड़ी होगी और सुन रही होगी कि वे लोग आपस में क्या बातें कर रहे हैं। तब उसने बहुत ही मन्द स्वर में पूछा—ये तुम्हारी कौन हैं ?

कजली अन्यमनस्क भाव से बोली—क्या बतलाऊँ ? यों उन्हें मौसी कहती हूं।

गिलास उठाकर वह पानी पीने लगी।

शिवराम बोल उठा—मौसी।

नायिका झट से पास आ गयी। बोली—कहिये, क्या हुक्म है? और कोई चीज मगाऊँ?

'नहीं' शिवराम ने कहा—मुझे अब कुछ न चाहिये।...एक बात मैं आप से कहना भूल ही गया। मैं आज की रात यहाँ ठहरूँगा भी। देर बहुत हो गयी। इस वक्त किसी अजीज के यहाँ जाकर उसको जगाना और तकलीफ़ देना ठीक नहीं है। इसके सिवा बेडिंग मेरा स्टेशन पर ही पड़ा है।

नायिका बोली—आप खुशी से ठहरिये। यह तो बल्कि मेरे लिए खुशक़िस्मती की बात है।

तब शिवराम, उठने से पहले, कजली की आँखों पर तैरता हुआ, बोल उठा—और तुमको तो कुछ नहीं कहना है?

कजली मुसकराती हुई बोली—बहुत कुछ।

आचमन करने के उपरान्त, खूँटे में टंगे तौलिया से हाथ पोंछकर, शिवराम ने जेब में हाथ डाल कर एक पर्स निकाला, फिर उसमें भरे नोटों को दिखलाते हुए वह बोला—इसे रख लो मौसी। कल चलते वक्त दे देना।

नायिका पर्स लेते समय जरा ठिठकी, फिर अन्दर चली गयी।

घण्टे भर बाद।

शिवराम एक पलङ्ग पर लिहाफ ओढ़े लेटा हुआ है। तकिये पर हाथ के सहारे रखा हुआ उसका सिर कुछ उठा है।

कमरे में बिजली का प्रकाश फैला है। पास ही दूसरे पलंग पर कजली लिहाफ ओढ़े हुए लेटी है। सिर उसने अपना ढक रखा है। शिवराम मौन है और छत की ओर देख रहा है। ताक़ पर चमकती एक टाइम-पीस रखी है और बन्द है। एक खूंटी पर कजली की, अभी कुछ क्षण पूर्व उतारी हुई, ऊनी जैकेट लटक रही है। रात घनीभूत हो गई है और कहीं से भी कोई स्वर नहीं सुनाई पड़ रहा है। एक तरह की क्लान्त मूकता ही मकान भर में फैलकर सोई हुई है। पड़ोस की दूकान में टंगी आफिसक्लाक ने अभी एक के बाद आधे घण्टे की आवाज की है; किन्तु शिवराम की आँखों में नींद नहीं है और कजली ने अभी इसी क्षण उसकी ओर करवट बदली है। यकायक उसकी दृष्टि उस पर जा पड़ी, तो उसने देखा—मुंह खोलकर वह उसे ही देख रही है।

'क्यों, सोई नहीं ?'—शिवराम ने तब पूछ दिया।

भ्रांत नयनों से एक बार कजली ने उसकी आंखों की पुतलियों से लिपट कर देखा और सिर ढक लिया।

तत्काल शिवराम ने फिर पूछा—सिर खोलो, जवाब दो।

किन्तु कजली ज़रा-सी हिली-डुली भर, बोली नहीं। मौन ही बनी रही। शिवराम ने तब झट से उठकर उसके लिहाफ़ के ऊपरी कोने को पकड़ते हुए ज़रा-सा अपनी ओर खींचा, तो

कजली ने आप ही सिर खोल लिया। फिर वह उसकी ओर देखती रही, कुछ बोली नहीं।

इसी क्षण "मैं पूछता हूँ, तुम सोती क्यों नहीं ?" कहकर शिवराम उसकी गम्भीर मुद्रा और बड़ी-बड़ी आँखों की चिन्त्य मूकता को देखता रह गया।

कजली बोली—मुझे नींद नहीं आती।

"आखिर क्यों ?"

"मैं नहीं जानती।"

शिवराम चुप हो गया। एक बार फिर उसकी दृष्टि सामने ताक में रखी टाइमपीस पर जा पड़ी और वह सोचने लगा—घड़ी नयी मालूम पड़ती है; लेकिन बन्द है, कौन जाने कब से ! सम्भव है, भीतर का कोई पुरजा टूट गया हो। सम्भव है, चाभी देने में अज्ञान से अनभ्यस्त हाथों ने कोई ग़लती कर दी हो, ऐसी कि......।

"मुझे तो खैर रात-रात भर अक्सर इसी तरह जगते बीतती है। लेकिन आप क्यों नहीं सो गये ?"

कजली कहकर फिर चुप हो रही और देखने लगी बाट, कि अब ये कहते क्या हैं ?

शिवराम मन ही मन सोचने लगा—तो घड़ी चुप रहकर भी कुछ बोल रही है; बतलाती है कि मैं क्यों मौन हूँ। यों मौन रहकर भी वह मौन रहने का मर्म खोलती है। कहती है कि

मैं इसी तरह पड़ी रहती हूँ, कुछ न कुछ देखती रहती हूँ चुपचाप। हालाँकि टूट गई हूँ और रहती सदा मौन हूँ। मूकता मेरी किसी प्रकार भंग नहीं होती। घृणित भी मेरे लिये ग्राह्य है, स्वीकृत होकर आता है। मैं केवल मुद्रा ही उससे चाहती हूँ—म्लान हो कि उज्ज्वल। अस्वीकृति मैं जानती नहीं। यह भी नहीं समझती कि उसकी स्थिति, क्षमता और मर्यादा का मेरे लिए अर्थ क्या है, विधेय क्या है। किन्तु इससे मुझे कोई मतलब नहीं है। मैं टूटी घड़ी पसन्द नहीं करता। अपने पास रखता नहीं। उसे सुधरवाना भी एक गलती है। क्योंकि वह जल्दी बिगड़ जाती है। मैं तो उसे नष्ट कर डालता हूँ।

शिवराम को चुप देखकर कजली ने फिर पूछा—बोले नहीं ?

"तुमने अभी जो बात कही—अपने विषय में"—शिवराम बोला—उसी को सोच रहा था जरा।

'क्या सोच रहे थे, मुझे भी बतलाइये।' कजली बोली और एक मीठा मन्दहास उसके ओठों पर खेलने लगा।

'यही कि नाम भी तुम्हारा कजली है।'—कहकर शिवराम फिर चुप हो गया और कजली ने लिहाफ़ से अपना सिर ढक लिया।

अपने संकल्प की बात सोचकर शिवराम यह कहने ही जा रहा था कि अब तुम सोओ कजली, दो बजने वाला है। किन्तु कजली ने फिर सिर खोल लिया, एक बार शिवराम की ओर

देखा, कनखियों से, और कह दिया—तो आप यहां सिर्फ रात बिताने आये थे !

"तुम ग़लत सोच रही हो कजली !"—शिवराम बोला—क्या मैं तुम्हें आज से जानता हूँ ?

"जानने से क्या होता है" तपाक से कजली बोली—मैं तो आप को पहले से नहीं जानती थी। कभी देखा भी नहीं था। लेकिन तो भी आप मेरे यहाँ आये। मैं पूछती हूँ, क्यों आये ?

गम्भीर चिन्तन के स्वर में शिवराम तब कहने लगा—

"हाँ, यह एक सवाल हो सकता है कि मैं क्यों आया। लेकिन इसका जवाब क्या तुम सुनना चाहोगी ? जबकि वह समय अभी नहीं आया। और क्या मैं इतनी जल्दी तुमको बतला भी सकूँगा ? ऐसी बातें बतलाने का एक समय होता है। मान लो, मैं काजल की कोठरी देखने आया था। मैंने अब तक उजाला ही उजाला देखा है, सफेद-सफेद चमकीला और प्यारा। मैं ऊब उठा था उससे। रोज़-रोज़ कहां तक देखता उसको ! मैंने सोचा—ज़रा-सा, थोड़ा-सा अन्धकार भी देखता चलूं। देखूं कि उजाला कभी-कभी जो हंसता है, अपने आप पर इतराता है। और संसार में फैले गर्त और गह्वर को, कपाट और कोटर में छिपे-लुके काले-काले अन्धकार को, पंक और धूल को, कर्दम और कलुष को, मुंह बिदोरकर, उपेक्षा से, अवमानना से जो देखता और

दुरदुराता है, उसमें कहीं कुछ तथ्य भी है कि नहीं—सार भी है कि नहीं। या यह केवल एक भ्रम है, प्रमाद है, और है अज्ञान—अयोग्यता।"

कजली शरीर पर से लिहाफ़ उठाकर, समेटकर उठ बैठी, झटसे। बोली—अच्छा तो क्या देखा आपने?

शिवराम ने अनुभव किया, उसके इस प्रश्न में तीव्रता का निखार है, विकास है उसमें। कहीं कुछ चोट भी है। शायद। व्यथा भी हो सकती है। या हो सकता है कि प्रतिहिंसा भी हो।

तब उसने कहा—मैं तो अभी देख ही रहा हूँ। अभी से क्या कह दूँ?

वह सोचने लगा—मैं कहां से कहाँ जा पहुंचा! मैं कह क्या गया! क्या मैं कायर हूँ और अपने व्रत को तोड़ रहा हूं?

उसी क्षण 'हूं' कहकर तकिये को अपनी दोनों जंघाओं पर रखकर कजली पहले दोनों हाथों के बल हो पड़ी, फिर एक हाथ से तकिये को दूर फेंककर चट से बैठ गई शिवराम के पलंग पर। बोली—आप तो कहते थे, मैं तुमको पहले से जानता हूँ। कैसे जानते हैं? जरा बतलाइये।

शिवराम अपने को सम्हालकर सिरहाने की ओर खिसक गया, कुछ दूर हटकर; और बोला—तुम वहीं बैठो। यह तुम्हारे

आ बैठने की जगह नहीं है। तब मैं बतलाऊँगा कि मैंने क्या कहा था और क्या मुझे और कहना है।

"तो आप कृपा करके मेरे यहाँ से चले जाइये"—कजली बोली—मैं कुछ सुनना नहीं चाहती। मैं जैसी भी हूँ, अच्छी हूं। मुझे आपका उपदेश सुनने की जरूरत नहीं है। मैं तो एक दम से काली अँधेरी रात हूं। मुझे उजाला अच्छा नहीं लगता। मैं उसे नहीं चाहती। मुझे वह न चाहिये।

वह उठ खड़ी हुई और कहती गयी—मैं अभी मौसी को जगाकर उनसे आपका पर्स दिलाये देती हूं।

शिवराम को अब प्रतीत हुआ, बड़ा अपराध करने से पूर्व उससे एक छोटा अपराध हो गया है। उसने एक नारी का अपमान किया है। सोती हुई जो नागिन है, उसको जगा दिया है। यह बात उसे इस ढंग से नहीं कहनी चाहिये थी। यह उसने भूल की है।

तब वह कजली को देखता रह गया, एकटक। चमकती रेशमी नीली कंचुकी महीन साड़ी के भीतर से कैसी झलक रही है, हँस रही है! उसकी गुंथी हुई, चढ़ाव-उतार के क्रम से सँवारी, चोटी कमर के भी नीचे लटक रही है और फुंदना उसका तितली-सा उड़ना चाहता है! कानों में पड़े जो नीलम हैं, बिजली की रोशनी में चमकते हुए कैसे शोभन प्रतीत होते हैं! और उसकी देह-यष्टि में यह जो माधुरी है, मोहकता है,

लतिका-सा दोलन है. जो सौन्दर्य के भार से लदकर, झूलकर हास का भी हास, लास का भी लास और एक अप्रतिम मार्दव बिखेर रहा है, क्या वह सभी व्यर्थ है, तुच्छ है—अग्राह्य है ?

उसके भीतर प्रश्न उठा—किन्तु इस अमृत के भीतर समाविष्ट—परितुप्ति—जो कलुष है, विष है, कर्दम है, वह ?

"कहाँ है, कहाँ है ?"

वह चारों ओर देखकर जैसे कोने-कोने से पूछने लगा। पूछने लगा कि बोल री छत की कड़ी, कजली ने अपने को कब धोखा दिया ?

उसे प्रतीत हुआ कि वे चिल्लाकर कह रही हैं कि यहाँ वह नित्य आत्म-वंचना करती है।

उसने पूछा—कह दे री ताक़ की घड़ी कि कब तू टूट गयी—और कैसे ?

उसे प्रतीत हुआ कि उस घड़ी की प्रत्येक सुई उसके बदन से चुभ-चुभकर बतला रही है कि घड़ी-घड़ी की बात मैं जानती हूँ। कजली ने नारी के गौरव के साथ विनाश का खेल खेला है। सब कुछ मैंने अपनी इन आँखों से देखा है।

तब उसने पूछा—और बता दे री दीवाल की खूँटी कि कब तुझ पर रस्सी बांधकर किस-किस को फांसी दी गई।

उसे प्रतीत हुआ कि वह कह रही है कि यहाँ जो कोई भी आया है, उसने अपनी मान-प्रतिष्ठा को ही नहीं, अपनी प्राण

प्यारी भार्या के साथ की गयी प्रतिज्ञाओं की बलि ही तो सदा दी है।

तब घृणा ही घृणा उसके चारों ओर फैल गयी। जान पड़ने लगा जैसे वह घोर नरक में आ गया है। किन्तु फिर कजली की ओर देखकर वह मानो कजली, आओ, यहीं बैठो, यहीं, बिल्कुल मेरे पास, और बताओ कि तुम मुझसे क्यों ऐसी नाराज हो गईं। मैं अगर सिर्फ तुमको देखने ही आ गया, केवल देखने, तो इसमें क्या बुराई हुई? मैंने अगर कह दिया कि तुम अलग बैठो, वहाँ, उस दूसरे पलंग पर तो इसमें मैंने क्या अपराध किया? तुम तो वेश्या हो, तुम्हारे लिए निकट और दूर में भेद नाम की चीज का अर्थ क्या? क्या तुमको बुरा लगा इसमें?

फिर कजली अपने पलंग की पाटी पर, उत्तेजित, आंदोलित, बैठ गयी। वह बोली—

"मैं वेश्या हूँ। क्या मेरे हृदय नहीं है, आत्मा नहीं है! मांस, रक्त और हड्डियाँ मेरी लोहा हैं, या लकड़ी? मनुष्यता मेरी मर गयी है? मैं इतना भी नहीं समझती कि आप मुझसे घृणा करते हैं! मैं पूछती हूं, तो फिर आप यहाँ आये ही क्यों? क्यों आपने मेरा वक्त खराब किया? आप मेरा अपमान करने, मुझे जलील करने, आये? मुझे मिट्टी में मिल जाने से आप को एतराज क्यों है? मैं तो कालिमा हूं। अपना उजाला आप मुझ

पर क्यों डालते हैं बेकार ? क्या आप चाहते हैं कि अँधेरा दुनियाँ मे मिट जाय ? मैं पूछती हूं, क्या यह सम्भव है ? उजाला ही उजाला आप देखना चाहते हैं—शौक़ से देखिये। मुझे भी बतलाइये कि उसकी शुरुआत कहाँसे होती है। मुझे भी समझा दीजिये कि अंधकार से परे प्रकाश का क्या अस्तित्व है ?

शिवराम सोचता रह गया। कुछ उसकी समझ में नहीं आ रहा था। अपने आप से वह उलझ उठता था। वह नहीं मानना चाहता था कि दुर्निवार प्रलोभन और वञ्चना, मोहावरण और लिप्सा, रंगरेलियाँ और कलहास सदा मानवात्मा के लिए हितकर हैं, अभीष्ट। बार-बार उमड़-घुमड़कर एक झंझावात उसके भीतर फैल जाता, गर्जन करने लगता। और तब वह निश्शंक होकर कहना चाहता—यह मिथ्या है, मिथ्या है, प्रमाद है। कालिमा हमको न चाहिये—न चाहिये।

पर इसी क्षण कजली बोली—और आप तो कहते थे, मैं अन्धकार देखने आया हूं। यही आपका देखना है !

शिवराम सोचने लगा—यह बहस व्यर्थ है। मुझे तो अपना संकल्प पूरा करना है। वह फिर एक बार कजली की ओर देखकर, उसके प्रश्न को सुनकर, अवाक् हो उठा। एक चिढ़ उसके भीतर पैठ गई। हार की, पराजय की। वह सोचने लगा—अगर मैं इसी समय इसे शूट कर दूँ तो ?—किन्तु क्या यह मेरी कायरता न होगी ? क्या यह उसकी बात का उचित जवाब

होगा ? क्या यह भी उत्तर देने का कोई शिष्ट ढंग है ? यह तो दानवता है। तब वह चुपचाप लेट गया। कुछ बातें उसके मानस-पट पर आने लगीं।

—कितनी कालिख इसने मेरे मुख पर पोत रखी है ? कुछ ठिकाना है ! लोग पूछते हैं—क्यों साहब, बचपन में सुना है, आप का ब्याह हुआ था। स्त्री भी आपकी सुन्दर थी। लेकिन आगे का हाल फिर कुछ मालूम नहीं हुआ।

रातें उसकी जागते बीतती हैं। मस्तक ऊँचा करके वह चल नहीं पाता। समाज से उसे तिरस्कार, अपमान और छिः छिः ही मिलती है; यद्यपि इस घटना में उसका कोई हाथ नहीं रहा है। निरन्तर अपमान और अवहेलना से भरा जीवन वह कब तक वहन करे ! वह अब और रुक नहीं सकता। वह कुछ सोचना नहीं चाहता। बहस करना भी उसे स्वीकार नहीं है।

कजली लेट रही थी और लिहाफ़ से उसने अपने आपको ढक लिया था। उसका सिर दर्द कर रहा था और अब वह सो जाना चाहती थी।

इसी क्षण शिवराम पिशाच-सा बन कर उठ बैठा। पैर उसके कुछ-कुछ काँप रहे थे, किन्तु हाथ दृढ़ थे। एक बार उसने दाँतों से अपने होंठ काट लिये। सिर के बाल उसके मस्तक तक लटक रहे थे और कोट की आस्तीन उसने ऊपर कर ली थी। सात फ़ायर का पिस्टल उसके जेब में पड़ा था।

उसने तै किया था कि वह तेज़ चाकू से उसका गला काटेगा।
पिस्टल को तो वह आत्म-रक्षा के लिए रखेगा।

अब उसने छुरी जेब से निकाल ली। बिजली के तीव्र प्रकाश में वह चमक उठी, तो उसने बढ़ कर स्विच उठा कर करेंट आफ़ कर दिया। अब उसने दो जेबों से दो रूमाल निकाल लिये। उसने सुना कि कजली के सोने का ही स्वर आ रहा है। किन्तु फिर वह तत्काल अपने पलंग पर चला आया।

वह सोचने लगा—"अभी वह सोई न होगी। ओः कितनी भारी ग़लती मैं करने जा रहा था। इतनी जल्दबाज़ी की ज़रूरत ही क्या है!"

किन्तु इसी क्षण कजली ने लिहाफ़ उठाकर पूछ दिया—सो गये क्या?

"नहीं तो।" शिवराम बोल उठा। यद्यपि वह सोचने लगा—उसने फिर ग़लती की। उसे उत्तर नहीं देना था।

कजली तब उठ बैठी और शिवराम ने चाकू चेस्टर के जेब में रख लिया।

कजली ने लाइट का स्विच दबा दिया और शिवराम लेट गया।

"आपने कहा था—मैं तुम्हें जानता हूँ। बतलाइये।" तकिये

पर कोहनी के बल सिर टेक कर कजली बोली—आप क्या-क्या जानते हैं ?

"बेकार है। जब तुमको नर्क का कीड़ा ही बना रहना है, तो पिछली बातें उठाने का कोई अर्थ नहीं है।"

कजली फिर उठ कर, तन कर, बैठ गयी। बोली—नर्क का कीड़ा खूब !

एक कुटिल हास उसके मुख पर खेलने लगा।

शिवराम ने कहा—"मेरा कहना तुमको बुरा लगा ; क्योंकि वह एक कठोर सत्य है।"

"हुँः ! कठोर सत्य !! कह कर कजली ने फिर व्यङ्ग की कटुता बिखेर दी। वह बोली—आपको मालूम है कि मैंने यह जीवन क्यों स्वीकार किया ?

उत्तेजित शिवराम बोला—सब मालूम है। राई-रत्ती भर मालूम है। कहने को ही तुम बेनीमाधव की लड़की हो, यद्यपि तुम्हारे वास्तविक पिता का नाम था गंगाप्रसाद। छल से तुम एक भले घर ब्याह दी गयी थीं। ब्याह के बाद जब बात उन लोगों पर प्रकट हो गयी और कई वर्ष तक तुम्हारा गौना नहीं लिया गया, तो तुमने अपनी आत्मा बेचना शुरू कर दिया और होते-करते तुम इस घाट आ लगीं। शरीर के ही धर्म को तुमने महत्व दिया। कष्ट-सहन में नारी की जो महत्ता है, उसकी ओर से तुमने आँखें फेर लीं। ऐन्द्रिक स्वाद को ही

तुमने देखा, वासना ही वासना की ओर तुम्हारा ध्यान रहा। नाबदान का पानी और पवित्र गंगाजल तुमने एक में मिला दिया। मनुष्य को तुमने जानवर बना डाला। मालेश्वरी सीता और भवानी पार्वती के पावन आदर्शों की सारी प्रतिष्ठा तुमने अपनी लोल लालसाओं से लीप-पोत कर साफ़ कर दी! तुमसे और कुछ नहीं हो सकता था, तो क्या तुम मर भी नहीं सकती थीं? मैं पूछता हूँ—नर्क का कीड़ा नहीं हो तुम, तो और हो क्या?

कजली की वह शोभन मुद्रा बात-की-बात में विकृत हो गयी। देर तक वह कुछ कह न सकी। शिवराम भी मौन रहा। पड़ोस की घड़ी में इसी समय तीन बजने की आवाज़ हुई।

थोड़ी देर बाद कजली ने ही मौन भंग करते हुए पूछा—मैं आपका नाम जान सकती हूँ?

"तुमको अब मेरा नाम जानने का कोई हक़ नहीं रहा।"—शिवराम बोल उठा—तुमने अपनी माँ के यहाँ केवल तीन वर्ष बिताये। पर तुमको पता होना चाहिये कि आज भी हमारे इस ग़ुलाम देश में आजीवन कौमार्य्य बिताने वाली सहस्राधिक स्वनाम-धन्य अबलाएँ मिल सकती हैं। कोई व्यक्ति कभी कुदृष्टि से उन्हें देख नहीं सका। और अगर कभी किसी पापात्मा ने ऐसा दुस्साहस भी किया, तो उन्होंने पदाघात से उन स्थितियों का सामना किया। प्रेमी अथवा स्वामी की प्रतीक्षा में

उन्होंने अपने शरीर का रक्त-मांस ही नहीं, अस्थि-पंजर तक ध्वंस हो जाने दिया! जीवन के क्षण-क्षण को उन्होंने पावन प्रेम की अग्नि में भस्म कर डाला! माना कि युगों से चले आ रहे नारी के चिरंतन आदर्शों की प्रतिष्ठा स्थिर रखने की ओर उनका ध्यान नहीं था। यह भी माना कि आदर्श की रक्षा-मात्र उनका ध्येय कभी नहीं था। किन्तु एक बार आत्म-चिन्तन के संसार में अपने इष्ट देवता की स्थापना कर लेने पर वे उसे भूल नहीं सकीं, त्याग नहीं सकीं। और इस प्रकार जीवन की आहुति देकर उन्होंने आत्म-दान के अमरत्व की जो प्राण-प्रतिष्ठा की, आशाओं और उमंगों के महावारिधि को मरुस्थल बना-बना कर उन्होंने नारी के वास्तविक स्वरूप को जो अमरज्योति प्रदान की, अपने मुख पर कालिमा पोत कर तुमने उसको भूलुन्ठित कर डाला है, हत्या की है तुमने उस गौरव की!—तुम्हारा मुख देखना भी पाप है!!

कजली चुपचाप सुनती रही। एक शब्द तक उसके मुँह से नहीं निकल सका। प्रस्तर की प्रतिमा की भाँति वह स्थिर बनी रही। किन्तु शिवराम का शरीर काँप रहा था। कंठ उसका सूख गया था और स्वर वाक्य पूरा होते-होते विकृत हो उठता था। पसीने की बूँदें उसके मस्तक पर झलक रही थीं। पलँग से उठ कर अब वह खड़ा हो गया। रूमाल से मस्तक का पसीना उसने पोंछ डाला और खूँटी से चेस्टर उतार कर पहन लिया!

कजली की दृष्टि अब तक नीची थी। अब वह शिवराम को ध्यान से देख रही थी। खूंटी से चेस्टर उतारते समय उसे कुछ सन्देह हुआ। किन्तु उसने उपेक्षा से उसे टाल दिया। उसे उत्तरोत्तर शिवराम की मुद्रा अत्यन्त भयानक होती हुई जान पड़ी। और उसी समय शिवराम ने चमकती हुई एक छुरी निकाल ली।

कजली भीतर-ही-भीतर एक बार कम्पित हो उठी। उसे प्रतीत हुआ कि वह मूर्छित हुई जा रही है; किन्तु अधिकार-पूर्वक वह सचेत और स्थिर बनी रही।

शिवराम बोला—पहले मैंने सोचा था, सोते समय इस छुरी से तुम्हारा खून करूँगा। किन्तु फिर मुझे अपना यह इरादा बदल देना पड़ा। एक बार तुम्हें तुम्हारे अपराधों की भी सूचना दे देना मैंने आवश्यक समझा। मुझे जो कुछ कहना था, मैंने काफी कह लिया। अब तुम मरने के लिए तैयार हो जाओ।

कजली अब भी कुछ नहीं बोली। किन्तु अब वह बैठी न रह सकी, उठकर खड़ी हो गयी। पहले उसने कंचुकी उतारी, फिर साड़ी और तत्पश्चात् पेटीकोट।

शिवराम चित्रलिखित-सा खड़ा-खड़ा सब देखता रहा। एक बार तो अस्थिर हो कर उसने अपनी आँखें मूंद लीं। एक बार उसने स्पष्ट रूप से पूछना भी चाहा कि आखिर इस नग्नता का अभिप्राय क्या है। किन्तु अन्ततः वह कुछ न कह सका।

सिर से पैर तक वस्त्रहीन हो कर तब कजली बोली—जो अपराध तुमने मुझ पर लगाये हैं, उनकी सफ़ाई मेरे बदन भर में पड़ी हुई इन काली-नीली, मिटी और घनी, रेखाओं से पूछो—घावों के निशानों और जली हुई खाल की सफेदी से पूछो। रो मैं सकती नहीं; नहीं तो आँसुओं से भी बहुत कुछ बतला सकती थी। था कभी आँसुओं का सोता; लेकिन अब वह सूख गया है। इतने पर भी अगर विश्वास न हो, तो पुलिस के पुराने काग़ज़ों में दर्ज आत्मघात के मेरे प्रयत्नों से पूछ देखो।

छुरी शिवराम के हाथ से छूट कर फ़र्श पर गिर पड़ी।

घड़ी तब भी टिक-टिक बोल रही थी।

गमनागत

भावना-तरंगें कुछ आगे बढ़ गयीं। तब आये, एक-एक कर के, कुछ छोटे-मोटे व्याघात। आषाढ़ के प्रथम दिवस की झमा-झम बरसती रात और साढ़े बारह बजे का समय। गरजते हुए बादल और बिजली की कौंध। सड़क के दोनों ओर पीपल और बरगद के सघन वृक्षों के छायामय वितान और बिजली की बत्तियों का जलधाराओं से छन-छन कर आता हुआ शीतल प्रकाश। दोनों ओर के पोखरों से पहुँचने वाली, कल-कल ध्वनि गुंजित, छोटी-छोटी नालियों का उन्मुक्त पलायन और निखिल की साइकिल का वेगमय परिचालन।

उसका कुरता भीग कर बदन से चिपक गया है। चश्मे के दोनों लैंसों पर क्रमागत बूंदों का प्रगल्भ प्रक्षालन जब उसके लिए दुर्वह हो गया, तब उसने उसे जेब में रख लिया। इसी क्षण पीछे से किसी कार का हार्न सुनाई पड़ा; फिर उसका ज्वलन्त प्रकाश भी उसके आगे-आगे दौड़ने लगा। तब निखिल बायीं ओर को कुछ और मुड़ गया। कार निकल गयी और

साथ ही उसमें बैठे दम्पति की एक क्षीण झलक भी दूर-दूरतर होती हुई अदृश्य हो गई। निखिल धीरे-धीरे अतिशय उन्मन होने लगा। रेलवे का पुल पार करते-करते साइकिल कुछ और मन्द पड़ गयी। बस, आगे ही कुएँ से उसे अपने घर की ओर मुड़ जाना है। पानी बरसना तो बन्द हो गया है, किन्तु सड़क पर बहते पानी की, एक ओर को बेगाकुल, कुलकुलाती हुई धाराएँ उसके सामने आ ही जाती हैं।

निखिल के मन में आया—एक दिन करुणा भी, उसके जीवन-पथ में, इसी प्रकार अनायास आ गयी थी।

थर्ड इयर में जब वह अपनी कक्षा में प्रथम आया था, तब से साथ के लोग उससे ईर्षा करने लगे थे। प्रति मास दो-दो चार-चार रुपयों तक के लिए उसे जिन मित्रों की उदारता पर अवलम्बित रहना पड़ता था, धीरे-धीरे अब वे सब उसके प्रति-स्पर्द्धी बन गये थे। तब प्रायः नित्य ही अगला दिन उसके लिए एक समस्या के रूप में आ खड़ा होता था। किसी प्रकार प्रोफे-सर वैशम्पायन को पता लग गया। वे उसे बहुत मानते थे। उन्होंने रायबहादुर बाबू गोपालचन्द मेहरोत्रा के यहाँ उसको एक ट्यूशन दिला दिया। वहीं करुणा से उसका परिचय हुआ।

संसार में एक-से-एक बढ़ कर सुन्दर पदार्थ हैं; मनुष्य उनको कहाँ तक अपना सकता है? फिर सभी कुछ उत्तम-ही-उत्तम किसको मिल सका है? तब, जो प्राप्त है, क्यों न उसी

को सम्हाल कर रक्खा जाय ?—क्यों न उतने से ही संतोष किया जाय ? जो अप्राप्य है, उसकी बात सोचना व्यर्थ ही है न । क्यों अभाव को अभिशाप मान कर, अतिशय सन्तप्त हो-होकर, अपने शान्त-संकुल जीवन-सरोवर को व्यर्थ ही मरु-भूमि बना दिया जाय ?

यही सोचकर बहुत दिनों तक वह करुणा की ओर से अनासक्त ही बना रहा ।

किन्तु एक दिन अनायास उसके मन में आया—यह प्राप्य और अप्राप्य के बीच का जो दुर्गम भेद है, चीज क्या है यह ? दुष्कर-दुर्भेद्य होने से ही कोई वस्तु क्या अप्राप्य हो जायगी ? जीवन को इतना अवश-अक्षम समझ लेने का अर्थ है जड़ता । मनुष्य के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है ।

तब वह करुणा से हंसकर दो बातें करना चाहने लगा । उत्तरोत्तर उसकी यह कामना अबाध होने लगी ।

किन्तु एक दिन वह फिर द्विविधा में पड़ गया ।

"क्या उसकी ऐसी क्षमता है ? रायबहादुर गोपालचन्द्र की पुत्री है वह ! और उसका पति आई० सी० एस्० होने जा रहा है ।"

—"और यह बेचारा निखिल, जो उसके छोटे भाई रमेश को पढ़ाने आता है ! करुणा के लिए चीज क्या है ?"

निखिल की धमनियों का रक्त जैसे खौलने लगना । उसके

भाल की रेखाएं तन जातीं। पढ़ाते समय कुरसी से उठकर वह कमरे में टहलने लगता। यहां तक कि रमेश की बात भी कभी-कभी उसे सुनाई न देती। वह सोचता रह जाता कि अपने को क्या कर डाले!—वह भी कोई मनुष्य है,जो अपनी बेबसी—लाचारी—को कुचलकर आगे न बढ़ सके!

—निखिल क्यों बड़ा आदमी नहीं बन सकता?

—क्या यह जरूरी है कि वह सदा ग़रीब ही बना रहे?

उसकी मुट्ठियां बँध जातीं। उसका रोम-रोम नवल उत्साह से उत्फुल्ल हो उठता। वह आंधियों से खेलने लगता।

—निखिल ग़रीब नहीं रह सकता। जूते की नोक से ठोकर मारकर वह ग़रीबी को अपने पास से दूर भगा देगा! किसी तरह वह बी० ए० तो पास कर ले! बस, थोड़े ही दिन की और कसर है!

उन दिनों की इन बातों की ओर ध्यान जाते ही निखिल के मुख पर हास फूट पड़ा। आज भी तो वह एक दैनिक पत्र का सहायक सम्पादक मात्र है!—आज भी तो उसे सत्तर रुपये मात्र मासिक) मिलते हैं!

उसके मकान के आगे, गली के सामने, म्युनिसिपल-बोर्ड का बिजली का खम्भा है। द्वार पर पहुँचकर उसने ताला खोला, साइकिल भीतर रक्खी। फिर ताक़ में रक्खी लालटेन जलाकर

वह ऊपरी कमरे में जा पहुँचा, जहाँ एक ओर करुणा का एक पुरातन चित्र टँगा हुआ था।

उस दिन कुछ बात ही इस तरह की हो गयी कि उसके अगल्भ तारल्य को वह भुला नहीं सका। भुला देने की क्या उसने चेष्टा नहीं की? उसने चाहा कि वह गोपाल बाबू के यहां का ट्यूशन त्याग दे। तब दो-चार दिन वह उनके यहाँ, बिना किसी प्रकार की सूचना दिये, गया भी नहीं। किन्तु बात फिर जा पहुंची प्रोफेसर वैशम्पायन तक। निखिल ने उनकी बातों के उत्तर में कहा—"मुझसे यह ट्यूशन-जैसा कार्य हो न सकेगा। मैं अब तक इस योग्य बन नहीं सका कि समाज के ऐसे उच्च वर्ग के बीच खप सकता। भले ही मुझे यूनिवर्सिटी की शिक्षा प्राप्त करने के इस सुअवसर का त्याग करना पड़े।"

किन्तु...

"बको मत निखिल, मैं जानता हूं, तुम क्या हो! फिजूल की—एकदम बे-सिर-पैर की—बातों के सोच-विचार में तुम इतनी दूर तक बह जाते हो कि अपना हित-अहित तक नहीं देख पाते! यह कितने खेद की बात है!...अच्छे रहे! मैं सोचता था—कोई विचारणीय बात होगी। सम्भव है, कोई बात तुम्हारे लिए अपमान-जनक हो गई हो। मैं कह-सुन के सब ठीक कर देता। लेकिन मैं देखता हूं—कोई बात ही नहीं है। व्यर्थ ही एक सिर-दर्द तुमने पाल रक्खा है।"

इस प्रकार प्रोफेसर वैशम्पायन ने प्यार से भरी उसकी ऐसी भर्त्सना की कि उसे फिर गोपाल बाबू के यहां अपने ट्यूशन पर जाना ही पड़ा।

जरा-सी बात थी वह। किन्तु निखिल के प्राणों से लिपट कर ऐसी सोई--ऐसी सोई—कि उसके जीवन में अक्षय हो उठी।

करुणा का चित्र देखते-देखते वही दृश्य उस समय निखिल के सामने मूर्तिमान हो उठा।

रमेश के विवाह के दिन थे और उस दिन उसका तिलक चढ़ा था। घर के निजी आदमियों के बीच निखल भी आगत-स्वागत में अत्यधिक व्यस्त रहा था। अन्त में जब बाहरी आदमी सब-के-सब चले गये, रह गये घर-ही-घर के कुछ विशेष व्यक्ति, तब इतमीनान से वे सब एक साथ खाने बैठे। सरदी के दिन थे और ग्यारह बज गये थे। गोपाल बाबू के एक अन्तरंग मित्र माधव बाबू ने खाद्य-सामग्री की ओर एक सरसरी दृष्टि डालते हुए धीरे-से कह दिया—बस, एक चीज की और कमी रह गयी।

इतना ही संकेत गोपाल बाबू के लिए पर्याप्त था। उन्होंने तत्काल उसकी भी व्यवस्था कर दी। फलतः सोडे से भरे एक शीशे के गिलास में वह चीज भी निखिल के सामने आ पहुंची।

निखिल ऐसे वातावरण में पला है, जहां यह चीज अस्पृश्य

समझी जाती है। दोस्तों के साथ वह सदा इन चीजों का बचाव करता आया है। किन्तु इन लोगों के बीच अब वह अपनी स्वतन्त्रता कैसे रक्षित रखे ? वह बड़े पशोपेश में पड़ गया। जिन वस्तुओं का उसे कभी परिचय नहीं मिला, जिनके सम्बन्ध में वह प्रायः कोरी बातें ही सुनता आया है, उन्हें वह ग्रहण कैसे कर सकता था ? फलतः उसका गिलास ज्यों-का-त्यों रक्खा रह गया। इस पर गोपाल बाबू तो कुछ नहीं बोले, किन्तु माधव बाबू से न रहा गया। बोले—मैंने आज जाना कि आप इस कदर प्यूरिटन हैं।

निखिल ने अनुभव किया, सचमुच वह ऐसे उच्च-वर्ग में खप जाने योग्य नहीं बन सका। अतएव बात-की-बात में वह अप्रतिभ हो गया। पान खाकर सिगरेट का धुआँ उड़ाते हुए जब यह पार्टी भी बिखरने लगी, तब रमेश और करुणा की निगाह बचाकर निखिल चुपचाप चला आया। चलते समय वह किसी से मिल भी नहीं सका।

दूसरे दिन का सायंकाल आया, तो निखिल रमेश के यहां जाने-न-जाने की बात सोचने लगा। इसमें उसे कुछ विलम्ब हो गया। अन्त में जब .ह रमेश के यहां कुछ देर से पहुँचा, तब सात बज चुके थे। पहुँचते ही नौकर ने उसके निकट आकर कहा—आपको रानी ने याद किया है। वे उधर उस कमरे में हैं। बाबू भैया सिनेमा देखने गये हैं।

वह करुणा के उस समय के चित्र को स्थिर होकर देखता हुआ बड़ी देर तक खड़ा रहा। यकायक उसे देख पड़ा, इस चित्र के ऊपर तो धूल जम गयी है। साथ ही उसे यह भी ख्याल हो आया कि अरे, अभी तक वह भीगे कपड़े ही पहने खड़ा है! इतना भी नहीं हो सका कि वह कपड़े तो बदल लेता! किन्तु इसके पूर्व कि वह कपड़े बदले, उसने जेब से भीगा रूमाल निकालकर पहले उस चित्र को ही पोंछकर साफ़ कर दिया।

कपड़े बदलते-बदलते वह उस समय महासागर की उत्ता.. तरंगों मे पड़ गया। मर्माहत होकर कमरे के इस छोर से उस छोर तक टहलता रहा। अन्त में अश्रु-विगलित होकर वह फिर करुणा के उस चित्र के सामने जा पहुंचा।

सदा की भाँति उस दिन भी करुणा ने अपनी कुन्तल राशि में लहरें दे रखी थीं। स्वर्णिम ब्रिज का रिंगलेस चश्मा उसके गुलाबी मुख पर एक अनोखी झलमली उत्पन्न कर रहा था। वह ऊपर मुलायम ऊनी मफ़लर डाले हुए थी, भीतर अत्यन्त शोभन ब्लाउज। समुद्र-फेनों और लहरों के मुद्रण की सुन्दर साड़ी उसकी कमलिनी सी देह पर खिलखिला रही थी।

निखिल उसके सामने पहुँचते-पहुँचते स्वप्न-लोक में जा पहुंचा था। इससे पूर्व, सर्वथा एकान्त में, उससे बातें करने का अवसर उसे कभी नहीं मिला था।

भीतर प्रवेश करते ही, सम्मान के भाव से, करुणा उठ खड़ी हुई थी। उसने कहा था—आइये, इधर निकल आइये।

गोल टेबिल के पास, उसके सामने ही, वह एक कौच पर बैठ गया था। विस्मित, शंकित, दृष्टि से देख-देखकर मुग्ध भाव से वह ठगा-सा रह गया था। उसका हृत्तल कम्पित हो उठा था।

उसके कोच पर बैठते ही करुणा बोली थी—आखिर कल आपने हम लोगों को लज्जित कर ही दिया !

निखिल और भी अधिक लज्जित हो उठा था। उत्तर में तब वह कुछ कह नहीं सका था।

करुणा ने कहा था—इसका मतलब यह है कि मैं अभी तक आपको पहचान नहीं सकी थी। कल इसी बात को लेकर माधव बाबू से मेरी एक झपट भी हो गयी। वे कह बैठे—इनको हम लोगों के साथ बैठालने की ऐसी आवश्यकता ही क्या थी !

निखिल के भीतर कोलाहल मच गया था।

इसी समय करुणा ने सिगरेट-केस निकालकर निखिल के आगे कर दिया था।

निखिल ने हाथ जोड़कर जो अस्वीकार किया, किन्तु करुणा कहती ही गयी थी—"लीजिये, लीजिये, अरे लीजिये तो !" और एक सिगरेट उसने निखिल को दे ही दी। फिर दिया-सलाई की डिबिया खोलती हुई वह कहने लगी—लौ से स्पर्श

होते ही धुँआं खींचा और फेंका जाता है। फिर झट से दिया-सलाई जलाकर उसकी लौ को निखिल की ओर करते हुए बोली थी—सिगरेट होठों से लगाकर लौ से धुंआ खींचिये, खींचिये; —जल्दी कीजिये।

किन्तु निखिल जब तक सिगरेट मुँह तक ले आने को हुआ, तब तक करुणा के हाथ की दियासलाई बुझ भी गयी। फिर तत्काल ही करुणा ने दूसरी दियासलाई जलाकर उसके होठों में पड़ी सिगरेट से लगा दी थी।

निखिल ने एक कश लिया, दो तीन......। उसे चक्कर आ गया था। प्रतीत हुआ था—मानो उसका शरीर पीपल का पत्ता बनकर डोल रहा है।

खड़े-खड़े उन्मन निखिल ने चित्र के फ्रेम के पीछे देखा। उस पर एक ओर उसने नोट कर रखा था—लौ का स्पर्श होते ही धुँआँ खींचा और फेंका जाता है।

उसको प्रतीत हुआ—वह धुँआँ खींचकर ही रह गया है, उसे फेंक नहीं सका।

वह छत पर चला गया। आकाश स्वच्छ हो चला था। तारिकाएँ चमकने लगी थीं। उसने अपनी चारपाई खुले गगन के तले बिछा ली। सिगरेट सुलगाई। दो कश लिये। उसे फिर ख़याल हो आया—उस दिन चलते-चलाते करुणा ने कहा था—देखिये निखिल बाबू, आप जो इस तरह मौन रहा करते हैं,

कभी कुछ कहते नहीं, इसका अर्थ यह है कि आप एक चीज का स्पर्श करते हैं, किन्तु कहते यह हैं कि मैं उसे नहीं जानता।

इस पर उसने करुणा से क्षमा-याचना की थी।

बस, इसके बाद उसने करुणा के यहाँ जाना बन्द कर दिया था। एक दिन था, जब वह करुणा से बातें करने को तरसता था और अब ऐसा दिन आ गया था, जब वह उसके सामने जाना नहीं चाहता था।

अभाव से लालसाएँ मत्त होती हैं; मिलन में वियोग और विच्छेद मूक रहकर भी उपहास की हँसी से विलसित होता रहता है।

निखिल के सामने एक प्रश्न था—करुणा उसकी है कौन?

प्रश्न आते हैं, चले भी जाते हैं। किन्तु उनकी समस्याएँ बनी रहती हैं।

निखिल अपना मुँह तो काला कर सकता है, किन्तु करुणा के मुख की लालिमा को मन्द होते हुए भी वह देख नहीं सकता।

फिर भी प्रोफेसर साहब के आग्रह से उसे फिर उसके बँगले पर जाना पड़ा था। कई दिनों तक करुणा बोली नहीं थी। किन्तु सिगरेट और जल-पान आदि आतिथ्य-सामग्री उसके आगे अब प्रायः आती रहती थी। वह उससे इनकार नहीं कर सकता था।

इनकार का अर्थ है धिकार। स्वीकार ने मर्यादाओं को

व्यापक बना दिया है।

उसे नींद नहीं आ रही थी, यद्यपि वह लेट रहा था। दो बजने का स्वर वह अपने कानों के परदों पर अनुभव कर चुका था।

कुछ दिन इसी तरह बीते।

एक दिन वह उसके बंगले को जा रहा था। बंगला मुश्किल से एक फर्लाङ्ग रह गया होगा कि वहीं टहलती हुई मिल गयी करुणा।

उसने पूछ लिया—अकेले ही कहां चल दीं ?

प्रश्न तो उसने कर दिया, पर फिर वह आप ही सकुचा गया। वास्तव में वह जा नहीं रही। वह तो महज़ टहल रही थी।

करुणा बोली—आओ, चलो, उस पार्क में बैठें। रेशम को जुलाब हो गया है। वह लेटा हुआ है।

वह इनकार न कर सका।

बेंचें पड़ी हुई थीं, तो भी करुणा घास पर ही बैठी। तब तक कोई कुछ बोला नहीं था। निखिल ने बैठते ही देखा, करुणा अतिशय व्यग्र है उसका मुख बिलकुल उतरा हुआ है ऐसी उदास वह कभी नहीं हुई थी।

उसने पूछा—बात क्या है करुणा ? ऐसी क्यों हो रही हो ?

कमी पूरी हो गयी। उसका यह पूछ देना भर उसके लिए आघात बन गया। स्वतः वह बोली नहीं, किन्तु उसके नयन

कुछ कह उठे। बस, उस दिन पहली बार वह खुल सका था।

"मैं उठ कर चला जाऊँगा। यह सब मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। तुम जानती हो, उस दिन के बाद मैं आना नहीं चाहता था; किन्तु प्रोफेसर साहब को मैं नाराज़ नहीं होने देना चाहता था। उनके उपकारों से कभी उऋण नहीं हो सकता। लेकिन तुम्हारा यही हाल रहेगा, तो मैं क्या करूँगा ? मिस्टर कपूर को मैं साफ़-साफ़ लिख दूँगा कि अपनी पत्नी को उसके पिता के घर छोड़ रखना और विशेष में इतने-इतने दिनों तक स्वतन्त्रता-पूर्वक रहना जीवन को ऐसी दो धाराओं में बांट देना है, जो आगे चल कर कभी मिल नहीं सकतीं।"

मर्माहत करुणा बोली—पत्र लिखकर देख लो।

उन लाल-लाल आंखों में जैसे रक्त छलछला आया था।

पहले वह समझ बैठा था, करुणा का अभिप्राय यह है कि पत्र लिख भले ही दो, उसका कोई फल न होगा। किन्तु फिर जब वह उसके मर्म को ग्रहण कर पाया, तो उसे प्रतीत हुआ कि वह उसके लिए उसका चैलेंज था।

बस इसी तरह की दो चार बातों में मुश्किल से आधा घण्टा बीता होगा। करुणा बोली—चलो चलें। तबियत नहीं लग रही है। उठकर वह भी साथ-साथ चल दिया। पार्क के बाहर आते ही करुणा ने कहा—कई दिन से सिर दर्द कर रहा था। तभी आज मैंने फ़ास्ट किया। कुछ कमज़ोरी जान पड़ती है।

दस कदम आगे बढ़ते ही वह एक रेस्तोरां के आगे पहुँच गया था। वह बोली—'चलो, थोड़ा सा खा-पी लिया जाय।' और वह झट से अन्दर पर्दों से अवृत्त एकान्त कक्ष में पहुँचकर एक गोल टेबिल के एक ओर करुणा बैठी थी, दूसरी ओर वह।

—आमलेट खाओगे?

....

—और कबाब?

.. ..

—जाने दो। मैं भी यह सब कुछ नहीं लूंगी।

जब तक ब्याय आ गया।

वह बोली—दो कप चाय और दो-दो टोस्ट।

ब्याय चला गया, तब उसने कहा—इस तरह साथ बैठकर जहर भी खाया जा सकता है, निखिल। यह सब चीजें क्या हैं?

× × × ×

स्वप्निल दृश्यों के घात-प्रतिघात से निखिल जब अस्थिर हो गया, तो सीढ़ी से नीचे उतर आया। अलमारी खोलकर शीशे का गिलास, सोडा और बोतल निकाल कर फिर ऊपर आ गया।

चांदनी छिटकी हुई थी। शीतल वायु लहरें ले रही थी। मकानों के दूसरे छोर पर कभी-कभी कोई चिड़िया बोल उठती, कभी बीच-बीच में किसी का बच्चा रो उठता।

—"हां, जहर भी खाया जा सकता है करुणा, उस समय मैं

यह बात जानता नहीं था ।" –गिलास खाली करते हुए निखिल के मन में आया । फिर विवर्ण होकर, अपने ही ऊपर उपेक्षा की हँसी हँसते हुए, वह सोचने लगा –ऐसी पवित्र, मधुर और प्यारी वस्तु के लिये कितने दिन तक वह इनकार करता रहा ! कितने दिन तक !!

मिस्टर कपूर सिविलियन बन कर आते ही सुलतानपुर में अस्थायी ज्वाइण्ट-मैजिस्ट्रेट नियुक्त हो गये थे । कुछ दिन उस पद पर रहने के बाद फिर आजमगढ़ में स्थायी रूप से ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट हो गये । किन्तु करुणा को इससे क्या ? मिस्टर कपूर पूरे साहब बनकर आये थे । पहले छिपे तौर पर, अलग एक बँगले में, एक मेम को रक्खे रहे; फिर कुछ दिनों बाद खुल्लमखुल्ला, अपने साथ ।

आज भी वह गोपाल बाबू के यहां रहती है । हाँ, उसके लिये तीन सौ रुपये महीने अवश्य आ जाते हैं ।

निखिल के मन में आया—मिस्टर कपूर पहले तो साल-छः महीने में एक-आध बार करुणा से मिल भी जाते थे, किन्तु इधर दो वर्ष से क़तई नहीं आये । किन्तु करुणा .....? हां, करुणा ?

× × ×

निखिल करवटें बदल रहा है । नींद उसे आती ही नहीं है । वह उठ बैठा । सिगरेट सुलगाई । दो कश लिये । धुएं की घूमती चक्कर मारती, रेखाएं देखते-देखते तकिये को उसने अपने

घुटनों पर रख लिया। पुनः उस पर कुहनियां टेककर फिर वह अपनी भाव-धुरा से खेलने लगा।

आज महीनों बाद वह करुणा से मिलने गया था। कैसी मधुर साध लेकर! उसने सोचा था-वह उससे कहेगा-जो समाज केवल पुरुष का है, जिसने नारी की व्यथा का अनुभव नहीं किया,उसे अपने गले की फांसी बनाये रखने का अर्थ जानती हो क्या है? वह मृत्यु है। कौन कहता है वह जीवन है? आओ चलो, आज हम दोनों एक साथ बैठकर विद्रोह का जहर पी लें। पिछड़े हुए समाज से दूर--सर्वथा दूर--जाकर एक दूसरी दुनिया बसायें।

आज वह पूर्ण रूप से तैयार होकर गया था। किसी प्रकार की द्विविधा आज उसे नहीं थी। वह जीवन और जगत् की समस्त सीमाएं पार कर चुका था। करुणा ही आज उसका जीवन थी, उसी में वह अपने जगत् को देखता था। करुणा को लेकर आज वह सरिता की बीच धारा तक आकर, आकण्ठ जलमग्न होकर, बढ़ रहा था। आज उसे डूबने का भय नहीं था। असीम गहराई में पहुँचकर, पैर उखड़ जाने—और प्रवाह के साथ बह चलने की दुश्चिन्ता भी आज उसे नहीं थी। अपने जीवन के अणु-अणु को यह करुणामय देखने लगा था। करुणा के लिए आज वह क्या नहीं कर सकता था? बँगले की ओर जाते हुए उसके मन में आया था—क्या जरूरत है कि वह

हिन्दी के सीमित जरनलिज्म में पड़ा रहे ? क्यों न वह अंग्रेजी के विस्तृत मैदान में खुलकर खेले ? तब उसे अपने विद्यार्थी-जीवन के वे दिन स्मरण हो आये, जब वह यूनिवर्सिटी की डिबेटिंग सोसाइटी का सभापति बनाया गया था। उसकी वक्तृत्वकला की कितनी धाक थी ! मन ही मन उसने एक योजना तैयार की। पहले वह इंगलिश पत्रों में दस-पाँच लेख लिखेगा। जब लेखों के द्वारा उन पत्रों के सम्पादकों को उसकी प्रतिभा का परिचय मिल जायगा, तब वह उनसे कहेगा—अवसर मिले तो आप का सहयोग देने के लिये तैयार हूं। अब तक के जीवन में वह कभी किसी की सिफ़ारिश लेकर कहीं नहीं पहुंचा, भले ही आप ही आप किसी ने उसके लिये कुछ कर दिया हो। किन्तु अब वह अपने आत्मीय उच्च वर्ग की सिफ़ारिश लेकर भी चक्कर काटेगा। उसे बढ़ना है, बढ़ते ही जाना है। उसे करुणा को यह दिखला देना है कि उसको पाकर वह ऐसा क्षुद्र नहीं बना रह सकता। सौ दो-सौ रुपये क्या चीज़ होते हैं ? दो-चार वर्षों के अन्दर उसे पाँच सौ रुपये मासिक लेने हैं—पाँच सौ रुपये !

उसका रोम-रोम पुलकायमान हो उठा।

किन्तु कुछ ही क्षणों तक वह इस प्रकार की उमङ्ग में रह सका। उसे बोध हुआ, प्रमाद से ही वह इतनी दूर तक सोचता चला गया था। वास्तव में जीवन की यथार्थता को बड़ी दूर

छोड़ आया है! ऐसी ही बात थी, तो वह अब तक इतना बड़ा क्यों नहीं बन सका ?

फलतः वह अब उस बंगले के बिलकुल पास पहुंचकर भी लौट आना चाहता था।

—"ऐसा ही था, तो तुमने इतना ऊंचा उठ कर दिखला क्यों नहीं दिया ?"

—'लफङ्गा है निखिल। वह बढ़कर बातें कर लेता है। सोच लेता है—मैं यह बन सकता हूं, वह बन सकता हूं। पर वास्तव में वह कुछ नहीं बन सकता! अकर्मण्य है वह !!"

अतिशय निराश, विक्षिप्त-सा, निखिल तब बंगले पर से लौट पड़ा।

अब उसे किसी प्रकार की जल्दी तो थी नहीं। धीरे-धीरे वह साइकिल से लौटा चला आ रहा था।

किन्तु अभी वह लौटकर एक फर्लाङ्ग भी तो आगे न बढ़ पाया होगा कि उधर से आता हुआ मिल गया रमेश! उसे देखते ही कार उसने खड़ी करा दी।

निखिल भी साइकिल से उतरकर निकट आ गया।

रमेश कार से बाहर निकलते ही नमस्ते करके बोला—बंगले से ही लौटे आ रहे हैं न ?

निखिल कुछ कह भी न पाया था कि उसने कहा—चलिये! ज़रा देर और बैठ लीजिये।

शोफ़र को साइकिल ले जाने का आदेश करके उसने उसे कार पर बिठाल लिया। निखिल तब और भी मर्माहत हो उठा। उसे ख़याल हो आया, इसी रमेश और करुणा के साथ, इसी कार पर, वह कितनी बार सिनेमा देखने गया था!

कार ड्राइव करते हुए रमेश बोला—आपने तो आना ही छोड़ दिया। पापा आपको अकसर पूछते रहते हैं।

तब विस्मयाकुल भाव से उसने पूछ दिया था—बाबूजी पूछते थे? अच्छा! रमेश बोल उठा—नौकर से मैंने दो-एक बार आपको सूचित कर देने के लिए कहा भी था। पर सदा उसने यही उत्तर दिया वे घर पर नहीं मिले। मैं पत्र लिखने की बात सोच ही रहा था।

तब उसका हृत्पिण्ड डोलने लगा था।

कार से उतर कर, करुणा से मिले बिना, वह सीधा गोपाल बाबू के यहां गया था। आरामकुरसी पर वे उस समय चुपचाप बैठे सिगरेट सुलगा रहे थे। कुरसी के बायें पटरे पर एक पुस्तक रक्खी हुई थी। उसके बीच के पृष्ठ दोनों ओर को खुले हुए थे और उन पर चश्मे का केस रक्खा हुआ था। उसको सामने आया देखकर गम्भीरता की मुद्रा बदल कर प्रसन्नतापूर्वक वे बोले—आओ निखिल, अबकी बार बहुत दिनों में आये। मुझे तुम्हारी याद कई बार आई।

उनके मुख पर वह प्रसन्नता केवल उतनी ही देर स्थिर रह

पाई, जितनी देर इस बात को कहने में लगी। तदनन्तर वे फिर अत्यन्त गम्भीर हो गये।

फिर कुछ देर मौन रहकर बोले—तुम तो यहाँ के "आदर्श" पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करते हो न ?

और इतना कहकर उन्होंने सिगरेट-केस और दियासलाई उसके सामने कर दी।

इसी समय करुणा आ पहुँची। वह हलके फालसे रंग की बाडिस पहने थी और उसी रंग की साड़ी। वेणी पीठ को लेकर कमर के नीचे तक लटक रही थी। उसके छोर पर लाल फीते की गाँठ बिल्कुल उड़ती तितली-सी झलक रही थी। कानों के रिंग्स में पड़े हुए नीलम दूर से ही झलमला रहे थे। यह सब कुछ था। किन्तु उसके मुख पर वह सुमन-शोभन कान्ति आज न थी। थी तो एक प्रकार की विप्रलब्ध विवशता।

एक बार उसको देखते ही पुनः पिता की ओर मुड़कर बोली एक बार आकर भी, बिना मिले ही, ये लौटे जा रहे थे, पापा। रमेश वापस लिवा लाया है।

खाली कोच उसके पास ही थी। बढ़ कर वह उस पर बैठने को थी कि तत्काल चेतनाहीन होकर वहीं गिर पड़ी।

गोपाल बाबू बोले—घबराने की कोई बात नहीं है। हिस्टीरिया के फिट आने लगे हैं।

तुरन्त उठकर उन्होंने काल बेल का बटन दाब दिया और

तत्काल दो नौकर आ गये। तब उन्होंने कहा-गुलाब जल, गद्दा और तकिया ले आओ।

करुणा थोड़ी देर रुक-रुक कर कुछ कहने लगी। कुछ अस्फुट शब्द भी उसने सुने थे। टेबिल फैन उठाकर उसने उसके थोड़े ही फ़ासिले से, सिर के सामने रखकर, फुल स्पीड से खोल दिया था। गोपाल बाबू निकट ही बैठे थे। वे उसके सिर पर हाथ फेर रहे थे। उनकी आँखों में आँसू छलछला आये थे।

करुणा अत्यन्त क्षीण स्वर में एक ही बात बार-बार दोहरा रही थी—आकर भी तुम लौटे जा रहे थे! आकर भी!

भावातुर निखिल अब और अधिक स्थिर न रह सका। चुपचाप उठा, नीचे आया। बनियाइन और क़मीज़ पहनी; टार्च ली। फिर दरवाजे पर आकर ताला बन्द करके चुपचाप वह एक ओर को चल दिया।

जीवन के समस्त मोहों से आज उसने छुट्टी पा ली है। सारा जगत् उसके लिए एक शून्य मात्र है। आज जान पड़ता है, विश्व के इस महाशून्य में ही वह मिल जाना चाहता है। पहले-पहले जीवन में उसने मां को पाया था। फिर उसने पिता को भी देखा। मां जब बिदा ले गई थी, तब भी उसने अनुभव किया था कि जगत् कुछ नहीं है। किन्तु फिर धीरे-धीरे पिता को पाकर वह जी सका। सोचा था-पिता भी उसका जीवन हो

रुकता है किन्तु जब वह भी चला गया तब उसने निश्चय कर लिया था कि अब किसी को वह अपना जीवन नहीं देगा। तब से वह सदा विश्व के कूल पर ही खड़ा रहा, सर्वथा तटस्थ बनकर।

किन्तु उसी समय अचानक उसके जीवन में आ गई यह करुणा। अपनी ओर से तब भी वह करुणा से सदा दूर ही बना रहा। निकट आने की उसने कभी चेष्टा नहीं की। किन्तु धीरे-धीरे वह अनुभव करता गया कि वह और उसका निश्चय भी कोई चीज़ नहीं है। करुणा से विलग रहने की उसकी सारी चेष्टा कोई अर्थ नहीं रखती। करुणा उसकी थी, केवल उसकी। वह इसके लिये कर ही क्या सकता है? उससे दूर रहना बिलकुल व्यर्थ हुआ है। न, व्यर्थ ही नहीं; वरन् उसके—और उसके लिये भी—अतिशय अहितकर हुआ है। अनुकूल रहकर भले ही वह हितकर बन सकता!

निखिल एक ओर चलते-चलते पहुँच गया बिल्कुल स्मशान पर। वहां एक चिता जल रही थी।

—ओह! ये लपटें मन्दाकिनी के हृत्तल पर कैसी हँस-खेल रही हैं! मानवात्मा के समस्त ज्ञान को, ज्ञान के दर्प को, दर्प के विश्वव्यापी राज्य तक को उन्होंने अपने इस क्षणिक विलोल हास में कैसा क्षुद्र बना डाला है!

सोचते-सोचते उसने जो दूसरी ओर देखा, तो मन ही मन

"अरे यह क्या ?" कहकर चौंक पड़ा। तब वह श्मशान के प्रतिकूल चल पड़ा। वहां एक गैस की लालटेन जल रही थी और उसके पास कुछ लोग बैठे थे। उनका अस्फुट स्वर भी कभी-कभी सुनाई पड़ जाता था। निखिल उसी ओर चल दिया। चलते-चलते यदा-कदा वह टार्च का स्विच दबा देता था।

यकाएक उसे सुन पड़ा, जैसे किसी ने कहा हो—कोई टार्च लिये इधर ही आ रहा है।

"आता होगा। तुम पत्ता तो चलो। देखो, एक कोट फिर किया।"

"तुम्हें अपने कोट की पड़ी है। अरे रामधीन, ए रामधीन। जान पड़ता है, सो गया साला।...अरे उठ रे। देख तो, चिता का क्या हाल है ?......ज्वाला बाबू से कहो, वे खुद भी देख लें। ...काम तो..."

"अरे पत्ता चलो जी। मेरा तो दम घुट रहा है। कहीं ऐसा न हो कि मेरा सपना ही टूट जाय।...ए...यह रहा कोट !... कहो बच्चू, कैसे तीन कोट किये !"

एक ओर यह चिता जल रही है। चलता-फिरता, संसार के मोह पाश में बद्ध मानव अपने समस्त सुख-दुखों से छुट्टी ले चुका है। साबुन-इत्रों से सुवासित, अनुराग-भरे राग-रङ्ग में विलसित, हास-परिहास विलोड़ित उसके शरीर का अणु-अणु जल-जलकर भस्म हो रहा है। सी-सी करके खून जलता है,

चट्ट-चट्ट करके अस्थियाँ चटकती हैं। धू-धू करके अग्नि-शिखाएँ। और दूसरी ओर उस मानव को सदा के लिये बिदा करने आयी यह मण्डली ऐसे समय का भी सद्व्यय करने के लिये ताश खेल रही है!

—तब कौन कहता है कि वही-गति है? और यह गति नहीं है—यह—यह?

बीचोबीच खड़े हो निखिल क्रम-क्रम से दोनों ओर देखकर, तत्काल आगे-आगे टार्च का प्रकाश फेंकता हुआ लौट पड़ा, सीधे अपने घर की ओर, इस विश्वास को लेकर कि जो कुछ वह अब तक नहीं बन सका वह अब बनकर रहेगा। कोई शक्ति उसे इस निश्चय से डिगा न सकेगी।

इसी प्रकार जा-जाकर वह सदा लौटता रहा है।

ट्रेनपर

चलती हुई गाड़ी का रिज़र्व्ड डब्बा है, जिसमें दो व्यक्ति अत्यन्त निकट बैठे हुए परस्पर प्रेमालाप कर रहे हैं। एक व्यक्ति बोलता अधिक है। उसके भावों में भी वेग है। जब बातें करता है, तो दस-पाँच मिनट तक बोलता ही रहता है। उस समय उसकी वाक्‌धारा में कहीं मन्दता नहीं आती। मानो उसे अपनी बात कहनी ही कहनी है; कहीं से कुछ लाकर, नये सिरे से, पेश नहीं करना है। सोचने की जैसे क़तई ज़रूरत ही नहीं है उसे।

उसका नाम है राधाकुमुद। लम्बा क़द है। बदन पर स्लेटी कलर का मुलायम ओवरकोट और उसके नीचे पैरों पर कभी-कभी झलक उठने वाला (उसी से मिलते-जुलते रंग का) पैंट उस पर बहुत खिल रहा है। सिर पर ऊपर की ओर, क़रीने से सँवारे हुए, मर्यादित केश कभी-कभी भीनी-भीनी खुशबू से लहरा उठते हैं। आंखें कुछ-कुछ लाल हैं और रात के जागरण को बिना पूछे बतला उठती हैं। पैंट के पाकेट से कभी-कभी सिगरेट निकालकर दो-

चार कश लेकर, उसकी आग बुझाकर फेंक देता है। बातें करते-करते एकाएक चुप हो जाता और मुलायम बर्थ के सिरे से पीठ टेक कर आराम से पैर पसार लेता है। कभी खिड़की के शीशे से गुजरते हुए दृश्यों की तीव्र गति पर लक्ष करता है, कभी पास होते हुए स्टेशनों की चिर श्रृङ्खलित, निश्चित, रूप-रेखा से उलझ पड़ता है और कभी फिर सीट के नीचे पैर लटका कर सहवासी से बातें करने में निमग्न हो जाता है।

दूसरे व्यक्ति की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। वह अधिक बातें करने का आदि नहीं है। बहुत कुछ वह बिना कहे ही कह डालता है। उसे कोई बात किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किसी के बिना कहे ही वह बहुत कुछ जान लेता है। तभी वह, जो उसके आगे आता है, उसे देखता भर रहता है। आखें खोलकर देखता है, बन्द करके भी देखता है और कभी-कभी तो आंखों से न देख कर अपने अन्तर से देखता है। किन्तु उसके दर्शन में वेग नहीं है। आतुरता नहीं है। है एक तरह की शान्त समाहित, अपेक्षा और उससे लिपटी हुई प्राणमयी निष्ठा।

उसका नाम है सुनन्दा।

सुनन्दा देखने में कुछ ऐसी बहुत सुन्दर नहीं है। गेहुंआ वर्ण है। मुंह में शीतला के छोटे-छोटे दाग भी हैं। खादी की एक खुशनुमा साड़ी के ऊपर एक कोट पहने हुए है। भीतर अण्डरवियर, जैकेट और पुलओवर। कानों में मोतियों

की झालरों के रिंग और हाथों में दो-दो चूड़ियां। दाहिने हाथ की अनामिका में एक अँगूठी जब से इस डब्बे में आकर बैठी है, तब से बैठी ही है; उठने या लेट रहने की उसे जरूरत ही नहीं पड़ी। पैरों की एड़ियों में लिखखिलाती हुई लालिमा को देख कर कभी कभी एक आध बार सस्मित हो उठी है। तभी झट से फिर अपने आप को कम्बल से अच्छी तरह ढक लिया है। राधाकुमुद की बातों के सिलसिले में एक बार कह चुकी है, कुछ खा लो, अरे खाओ; अच्छा मैं भी खाऊँगी। मुझे भूख लगी है।

तश्तरी पर मिष्ठान्न निकालकर रख दिया है। जब देख लिया कि राधेबाबू खा रहे हैं, तभी उसी में से एक-आध कौर खुद भी खा लिया है। किन्तु बहुत अधिक भूख रहने पर भी उसकी पहचान का वैसा कोई लक्षण नहीं देख पड़ा है।

दूसरी बार उसने कहा—सो क्यों नहीं जाते। कितने दिन के जगे हो, कुछ ठीक है? मैं तो दिन में सो चुकी हूँ। मैं सोना अभी चाहूँ, तो जल्दी मुझे नींद नायेगी। लेकिन तुम न सोओगे तो तुम्हारी तबियत न खराब हो जायगी?

बस, यही दो-चार बातें उसने कही हैं। रात के चार बजे हैं। फरवरी मास की सत्रहवीं तारीख है। कहीं ओले पड़े हैं, पानी भी बरसा है। दो दिन से योंही अत्यधिक ठिठुरन रही है। फिर इस समय तो तूफ़ान-मेल की यात्रा है! खिड़कियों की सांसों

को, जोर से जैसे चीरती हुई, जबरदस्ती हवा घुसी चली आती है।

सुनन्दा ने अभी कह डाला है-'मैं तो दिन में सो चुकी हूँ,। खूब !

पागली ने जब यह बात कही, तो अपनी ही यह बात उसे कितनी मीठी प्रतीत हुई। अजी कुछ पूछो मत, बहुत मीठी। लेकिन क्या उसने यह बात सच कही थी ?

झूठ--एकदम झूठ।

लो, सुनन्दा झूठ बोली गयी । लेकिन उसके इस झूठ में क्या किसी प्रकार का कोई कलुष है ? क्या उसके द्वारा किसी का कुछ अनिष्ट हुआ है ?—कौन कहे ? किसमें इतना साहस है, जो सुनन्दा के इस झूठ को बुरा कहे ? कहे भी तो क्या वह झट से उसे उत्तर न दे देगी कि वह तो एक कल्पना की बात थी। उसने कल्पना कर ली थी कि वह दिन को खूब गाढ़ी नींदों सो चुकी है। इसलिए रात को उसका जगना सर्वथा स्वाभाविक है। उसने एक स्थिति के सत्य को कल्पना के रूप में देख लिया है। उसका कथन झूठ कहाँ है ? झूठ और चीज है जी। कल्पना से झूठ का साम्य क्या ? कल्पना तो कांक्षा का एक मूर्त्त स्वरूप होता है। स्कूल दृष्टि-जगत् से परे, एकदम अन्तर्लोक की वस्तु है वह। किन्तु झूठ तो यथार्थ स्थिति से प्रतिकूल मनुष्य का एक कलुष है।

मिर्ज़ापुर स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हुई थी। थोड़ी देर में गाड़ी धीरे-धीरे चल दी; फिर मोशन पर आ गयी।

राधे बर्थ पर लेटा हुआ, कम्बल से अपने को अच्छी तरह ढक कर, सो जाने की चेष्टा में था।

सुनन्दा बैठी-बैठी ऊँघने लगी थी। किन्तु वह सोना नहीं चाहती थी। तभी ऊँघ-ऊँघकर एकदम से सचेत हो उठती थी।

इसी समय एकाएक उस डब्बे का द्वार खुल गया। एक व्यक्ति उस रिज़र्व्ड कम्पार्टमेंट में भी आ ही गया। उसके बाल बिखरे हुए थे। आंखें गड्ढों में धँसती जा रही थीं। ब्राउन पैंट पर खाद्य पदार्थों के दाग़ स्पष्ट झलक रहे थे। क्रीज़ उसकी एक दम मिट चुकी थी। कोट के भीतर की शर्ट का कालर मैला पड़ गया था। दाढ़ी बढ़ रही थी। थोड़ा-थोड़ा हांफ रहा था। जान पड़ा, मानों दौड़ता हुआ आया हो। मुद्रा पर विवशता की स्पष्ट छाप थी।

सुनन्दा कांप गयी। उसे देखते-ही-देखते उसका मुख स्याह-सा पड़ गया।

राधे उठकर खड़ा हो गया। तपाक से आगे बढ़कर, वह उसे पीछे ठेलने ही जा रहा था कि उसे तुरन्त अपना यह भाव बदल देना पड़ा, जब उसी निमेष में उसने सुना—

"आप मुझे क्षमा करें। अगले स्टेशन पर ही मैं उतर जाऊँगा। इसी क्षण अगर मैं इस डब्बे को भी न पा सकता, तो

मुझ से यह ट्रेन छूट ही जाती। इस ट्रेन में जो एक बारात लौटी जा रही है वह ... ।"

वाक्य पूरा न हो पाया था कि राधे बोला—ओः यह बात है। मैं तब आपके इस आकस्मिक आगमन से भी बड़ा सुखी हुआ। . आप शौक से बैठिये। इधर निकल आइये।

"बैठने के लिए मुझे सीट का एक कोना भर चाहिए। भले ही वह खाली पड़ी हो। आपको मैंने कष्ट दिया। आपकी क्षण क्षण की कल्पना और उसकी भाव-धारा के बीच, मैं अप्रत्याशित रूप से, एक मूर्तिमान् व्याघात बनकर आ गया। मुझे इसकी बड़ी लज्जा है। लेकिन मैं करता क्या? मुझे सूझ यह पड़ा कि इसी डब्बे में चला जाऊँ, तभी खैर है। आप जानते हैं, मनुष्य अपनी मर्यादाओं में कितना बँधा हुआ है; तो भी कुछ ऐसे अपराध भी उसे विवश होकर करने ही पड़ते हैं।"

आगन्तुक बात करते हुए सदा राधे की दृष्टि पर ध्यान रखता है। अवसर पाकर वह कभी-कभी सुनन्दा की ओर भी देखने लगता है।

और सुनन्दा लेट गयी है। कम्बल से उसने अपना सिर तक ढक लिया है।

राधे बोला—आप का यह सोचना ठीक ही है। कानून इसे अपराध ही कहेगा। किसी की भी विवशता दूसरे व्यक्ति के अधिकारों में हस्तक्षेप अथवा व्यतिरेक उपस्थित कर सकने की

क्षमता नहीं पा सकती। लेकिन अब आप इसका ख्याल छोड़ दीजिए। आपकी स्थिति में यदि मैं होता तो मैं ऐसा ही करता। खैर, इस अप्रिय प्रसङ्ग को छोड़ कर हम लोग दूसरी बातें करें तो अच्छा।...आप अच्छी तरह से बैठ जाइये। तीस-चालीस मिनट की तो बात है। अगला स्टेशन इलाहाबाद पड़ता है। वहाँ पर इस डब्बे से उतरकर अपना डब्बा पा जाने के लिए आपको काफी वक्त मिलेगा। चिन्ता की कोई बात नहीं है।

इस पर आगन्तुक ने कहा—लेकिन अब मेरे लिए और कष्ट न उठाइये। मेरा ख्याल है, आप सो रहे थे। तो फिर इतमीनान के साथ आप सो ही जाइये। मैं नहीं चाहता कि आपको मेरी जात से और किसी तरह का कष्ट हो।

"मैं सो तो नहीं रहा था। हाँ, सो जाने की चेष्टा में जरूर था। लेकिन जब तक आप बैठे हैं, तब तक मेरे लिए सो सकना कैसे सम्भव है?"—कहते-कहते राधे के मुख पर एक मृदुल हास मुद्रित हो गया।

"ओः सचमुच! भाई मुझे क्षमा करो। मैं बहुत शर्मिन्दा हूं। मैं और कितनी बार क्षमा माँगूं!"

यह व्यक्ति जब कोई बात कहता है, तो ऐसा जान पड़ता है, जैसे उसकी अन्तरात्मा की सारी मिठास उसकी वाणी पर उतर आयी है। उसकी आँखें बाहर निकली-सी पड़ती हैं। स्वर उसका इतना मन्द है, इतना धीमा, कि सहज ही उसका

गुञ्जन प्रशान्त पड़ जाता है। राधे को यह स्पष्ट बोध होने लगा है कि उसके स्वर की यह मन्दता सुनन्दा के लिए है, जिससे उसकी निद्रा को किसी प्रकार का धक्का न लगे। तभी उसके मन में आ जाता है—यह व्यक्ति कितना शिष्ट है, कितना सभ्य !

तब राधे बोला—आप नाहक़ इतना परेशान हो रहे हैं ! मैंने कहा न कि आप इस बात को भूल ही जाइये। आखिर आप इतना पछता क्यों रहे हैं ! बतलाइए, मैं आपकी इस परेशानी को दूर करने के लिए क्या करूँ ? अच्छा अगर आप मेरी स्थिति में होते, तो मेरे साथ किस तरह पेश आते ? बतलाइए, आप मौन क्यों हो गये ?

"मैं आपकी स्थिति में होता'....! आप यह कह क्या रहे हैं ?" उसने कहा—"आपने यह बात कह कैसे डाली ? आपने यह न सोचा कि उस स्थिति की कल्पना न मैं कर सकता हूं, न आप कर सकते हैं। स्थिति स्थिति है; उसकी कल्पना नहीं हो सकती। किसी भी स्थिति को कल्पना की आँखों से कोई देख भी सका है ! फिर उस स्थिति में अपने मनोभावों की बात को इस स्थिति में रहकर सोचना तो और भी अकल्पित है ! खैर, ये बातें बहस तलब हैं। इस समय इनकी चर्चा करना फिजूल का एक दर्द सिर मोल लेना है। आप सो जायें। अब और अधिक कष्ट न करें।"

लेटता हुआ राधे बोला—अच्छा तो, अगर मैं सो जाऊँ, तो

आप को कुछ शान्ति मिल जायगी ? अच्छी बात है। मैं आप जैसे व्यक्ति को दुखी होते नहीं देख सकता। मैं आप से फिर कभी मिलूँगा। अच्छा, क्या आप अपना पता मुझे दे सकते हैं ?

तब उस व्यक्ति ने एक विजिटिङ्ग कार्ड राधे को देते हुए कहा—लेकिन यह सब बेकार है। आप मुझ जैसे अभागे व्यक्ति को कभी याद नहीं कर सकते।

"आप विवाह करके लौट रहे हैं। और फिर भी ऐसी बातें कर रहे हैं, जिनको सुनकर मर्म-स्थल पर आघात-सा लगता है। आपकी तबियत भी अच्छी नहीं जान पड़ती। क्या इन दिनों आप कुछ अस्वस्थ रहे हैं !" राधे बोला।

उसने कहा—मैं अब कुछ भी जवाब न दूँगा। जब तक मैं बातें बन्द न करूँगा, आप सो नहीं सकते, यह निश्चित है।

राधे का शरीर यों ही शिथिल हो रहा था। दो-तीन मिनट में ही उसकी आँखें झपक गयीं।

थोड़ी देर में ट्रेन इलाहाबाद-स्टेशन पर आकर खड़ी हो गयी। आगन्तुक चुपचाप उससे उतर कर प्लेटफार्म पर आ गया। सुनन्दा ने उठकर पास की खिड़की खोल ली। तब वह व्यक्ति उसी खिड़की के निकट आकर बोला—

"अब तुम जाओ सुनन्दा। मैं भी अपना रास्ता पकड़ता हूं। मैं तुम्हारा क्या विश्वास करूँ, जब मुझे अपना ही विश्वास

नहीं रहा। अपने प्राणों का मोह तो मैं संवरण कर सकता हूं, किन्तु तुमको स्वामी के रूप में यह जो देवता मिला है, उसके विमल जीवन के उत्तरंग मोह को मैं किसी तरह का आघात नहीं पहुँचा सकता।···बस, जाता हूं !"

इसी क्षण राधे हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ और बोला—"यह आदमी जाते वक्त क्या कह गया, तुमने कुछ सुना ? यह कौन था ? यह...? क्या तुम इसे जानती हो ?"

सुनन्दा का सुमन-शोभन मुख, बात-की-बात में जैसे स्याह पड़ गया हो। उसने चाहा, उसकी आँखें नतमुखी हो जायँ, किन्तु वह राधे की ओर, उसी अस्थिर दृष्टि से देखती ही रही; टस-से-मस तक न हुई। हाँ, उसकी आँखों की पुतलियाँ कुछ चमकने जरूर लगीं। एक बार उसके मन में यह भी आया, वह कह दे—'मैं क्या जानूँ, कौन था ! मैं तो सो गयी थी। गाड़ी खड़ी हो जाने पर, स्टेशन के शोर-गुल से, मेरी नींद उचट गयीं, तभी मैं उठकर बैठ गयी।' किन्तु वह अपने आपको सदा के लिए बदल जो चुकी है। स्वामी के आगे वह झूठ कैसे बोले ? क्षण-भर के इस संकल्प-विकल्प के पश्चात् उसने अत्यन्त दृढ़ होकर कह दिया—जानती हूं। वह मेरा मित्र रह चुका है। इधर कुछ दिनों से विक्षिप्त-सा रहता है।

अब सब कुछ राधे की समझ में आ गया। एक-एक करके उसकी सारी बातें उसे याद आने लगीं।

—ओ: उसने कहा था—"लेकिन यह सब बेकार है। आप अभागे व्यक्ति को कभी याद नहीं कर सकते !. मैं आप की स्थिति में होता...आपने यह बात कह कैसे डाली ! आपने यह न सोचा कि उस स्थिति की कल्पना न मैं कर सकता हूं - न आप कर सकते हैं ? इस ट्रेन में जो एक बरात जा रही है, वह...!"

करुणार्द्र होकर राधे अतिशय आन्दोलित हो उठा। इधर ट्रेन अपनी चरम गति की तीव्रता से धक्-धक् करती चली जा रही थी; उधर राधे का हृत्पिण्ड धक्-धक् कर रहा था। अन्त में अपनी जीवनगत सम्पूर्ण निपीड़ित मानवता को जैसे मुट्ठी में भर कर, एक ही दाँव के आगे फैलाता हुआ वह बोला—तुम उसके साथ जाना चाहो, तो उसे खोज कर मैं तुम्हें सौंप सकता हूँ।

किन्तु रुद्ध कण्ठ से सुनन्दा बोली—मैं जानती हूँ, तुम ऐसा कर सकते हो ! तभी तो मैं तुम्हें पा सकी हूँ। लेकिन तुम्हें मैं कैसे विश्वास दिलाऊँ कि वह मेरा कोई नहीं है। रह गयी उसकी बात। सो मनुष्य के इस पागल मन को तुम बाँध भी सकते हो कि बाँधने ही चले हो। मेरे सिर में योंही कौन कम दर्द रहता है; तुम और जो ऐसी बातें करोगे, तो मैं बावली हो जाऊँगी।

भावगर्वित राधे तब सुनन्दा के बर्थ पर आ गया।

कबाड़ी

ग्रैण्डट्रङ्करोड के एक चौराहे पर कबाड़ी की दूकान लगी है। पुरानी पुस्तकें, अँगरेजी दवाइयों के खाली डब्बे और शीशियाँ, देश-विदेश के बने ताले—पुराने, जङ्ग खाये हुए—चाभियों का ढेर, सेफ्टीरेजर्स, टीन के सोप-केस, साइकिल के पुर्जे, लैम्प, ब्रुश आदि पचासों प्रकार की चीजों का ढेर लगा है। सभी चीजों पर मुर्दनी छायी हुई है; जैसे कूड़े के ढेर में से निकाली गयी हों। सभी इस तरह से बिखरी हुई पड़ी हैं, जैसे मूल्य के नाम पर उन्हें केवल क्षुद्रता का तिरस्कार ही मिलना निश्चित है। लोग दूकान को घेरे खड़े हैं। उनकी आँखें प्रत्येक वस्तु पर जा कर उसके अवशिष्ट जीवन के सामर्थ्य की ही परीक्षा करने लगती हैं। कुछ लोग बैठ कर किसी वस्तु को जो देखते भी हैं, तो एक गहरी उपेक्षा और दुर्दमनीय घृणा से मुँह बिचकाकर कह उठते हैं—अरे! यह तो एकदम पुरानी है!—कितने दिन काम देगी?

कबाड़ी उनके इस कथन और रूप को देख कर भी चुप ही

रहना जानता है। मानो उसने इस प्रकार की घृणा-व्यञ्जित बातें सुनते रहने का अभ्यास कर लिया हो! वह ठण्ढे, भुने हुए, चने और लाई का चबेना चबाता जाता है। कभी नमक का एक छोटा टोरा जिह्वा पर रख लेता और कभी लाल मिर्चे की नोक दाँत से काट लेता है। ग्राहक आ-आकर खड़े होते, बैठते, चीजें देखते, लेते और उठ कर चल देते हैं। पर कबाड़ी उनसे कुछ कहता नहीं, वह उनको केवल देखता-भर रहता है।

कभी-कभी कबाड़ी किसी ग्राहक की बात सुन कर थोड़ा मुसकरा भी देता है। वह सोचने लगता है—ये लोग जान-बूझ-कर अपनी जबान खराब करते हैं। पुरानी चीजें तो सब हैं हीं, मूल्य भी उनका उतना ही उतरा हुआ है; फिर भी ये मुँह बनाये बिना नहीं मानते! यह भी नहीं सोचते कि उनकी इस उपेक्षा का मूल्य क्या है!

किन्तु इतना सोच लेने पर अपने ही इस भाव की कटुता पर उसे दुःख होने लगता। उसके मन में आता—बेचारे अबोध युवक संसार के नग्न रूप से अनभिज्ञ और अनुभवहीन!

उस दिन, बड़ी देर तक, उसकी दूकान पर मुझे खड़ा रहना पड़ा। आप कहेंगे, ऐसी क्या मजबूरी थी?

"हाँ, थी मजबूरी। मैं उसे मजबूरी ही कहूँगा। रोज तो ऐसा अवसर आता नहीं कि दारागंज-जैसे देहाती मुहल्ले में कोई कबाड़ी इस तरह से अपनी दूकान फैला कर बैठे और

वस्तुओं की विभिन्नता (Variety) देख कर किसका मन है जो एक बार प्रलोभन में आकर, कुछ देर के लिए, वहाँ खड़ा न हो जाय।

आप जानते हैं, कुछ मजबूरियाँ तो हमारे ऊपर समाजगत आती हैं, कुछ अपने स्वभाव से सम्बन्ध रखती हैं। सो, उस दिन की मेरी वह मजबूरी बहुत कुछ स्वभावगत थी। वस्तुओं को तो मुझे देखना ही था। पर उनसे भी ज्यादा उस कबाड़ी के व्यवहार के भीतर से झाँकते हुए, उसके मन और जीवन को भी देखना था।

कई व्यक्ति आये और गये। किसी ने कोई चीज़ नहीं ली। परन्तु जाने-आने वाले व्यक्तियों का क्रम ज्यों-का-त्यों था। भीड़ में किसी प्रकार की कमी नहीं होने पाती थी। मैंने एक टार्च उठाया और पूछा—कुछ दिन काम दे सकेगा?—इसमें यह जो छोटा-सा बल्ब लगा है, प्रायः खराब हो चुका होगा। इस वक्त जरूर ठीक मालूम पड़ता है।

कबाड़ी बोला—नया बल्ब तो आपको बाजार में भी मिल जायगा।

मैंने देखा, उत्तर देने के बाद, उसके होंठ जरा-से फैल गये। प्रतीत हुआ मेरे प्रश्न पर उसने आप-ही-आप, निरप्रयास रूप से, अबोधता की कैसी गहरी छाप लगा दी।

अब मैंने पूछा—इसका दाम क्या है?

"चार आने"—उसने कहा।

मैंने तब वह पुराना टार्च तुरन्त चार आने पैसे देकर खरीद लिया।

अब मैं फिर अन्य वस्तुओं की ओर देखने लगा।

थोड़ी देर के बाद, उसके पास और एक आदमी आकर बैठ गया। उदास मुख, शरीर में केवल एक पञ्छा—मैला और फटा।

कबाड़ी ने उससे पूछ दिया—खाना खा आये ?

क्षीण स्वर में, शिथिल मन से, उसने कह दिया—इच्छा नहीं है। "खूब कही !" कबाड़ी उत्तेजित होकर बोला—"इच्छा नहीं है ! कैसी होती है इच्छा, जरा बतलाना तो सही ! कायर—निकम्मे ! अभी नौकरी छोड़े चार दिन नहीं हुए और चेहरे पर मुर्दनी छा गयी। घर में खाने को रखा भी है, तो भी खाया नहीं जाता ! मैं तो अठारह वर्षों से बेकार हूँ। कहाँ से कहाँ आ पहुँचा, मालूम है कुछ ? जहर खाके मर जाते मियाँ, जहर खाके; अगर मेरी जैसी मुसीबतों का मुक़ाबिला करना पड़ता। अभी पुलिस की कोई लत्तड़ लग जाय, तो चुपचाप जाकर उसकी मुट्ठी गरम कर आओगे; बीबी किसी के साथ भाग खड़ी हो, तो सारी सम्पत्ति और जिन्दगी हथेली पर लेकर नाचते फिरोगे ! और जो जुए के फड़ पर बैठ गये, तब तो बीबी का लहंगा तक बिक सके तो बेच डालोगे ! लेकिन नौकरी से जवाब

जो मिल गया, तो खाने की इच्छा नहीं है ! बुज़दिल कहीं के ! ...जाओ, चार आने पैसे रोज़ मैं दूँगा। यह गट्ठर लादकर नौ-दस मील रोज़ मेरे साथ घूमना पड़ेगा !

उस आदमी के मुँख पर मुसकराहट दौड़ गयी। बोला—सच कहते हो ?

कबाड़ी ने उत्तर दिया—लानत भेजता हूँ, बात कहते मुकर जाने वाले पर !

उसने कहा—अच्छी बात है। मुझे मंजूर है। अच्छा, तो अब मैं घर जाता हूँ, खाना खा आऊँ।

उस आदमी के चले जाने के बाद फिर वही शान्ति, मनोभावों की मूक उछल-कूद। किन्तु मुझे यह स्वीकार न था कि कबाड़ी स्थिर बना रहे। मैं तो उससे कुछ सुनना चाहता था। मैंने पूछा—आप बता सकते हैं, यह टार्च आपके पास कैसे आया था ?

उसने "हाँ-हाँ, बड़े मजे के साथ। कनकौवा उड़ानेवाले, डेढ़ पसली के, एक मियां जी आये और लगे इधर-उधर चक्कर दे-देकर पुकार लगाने - 'एक टार्च बेच डालें।'

मैंने पूछा—'क्या लोगे ?'

बोले—डेढ़ रुपये का है। बारह आने में दूँगा।

मैंने कहा—पैसे दस दे सकता हूँ।

"बहुत हिलाया-झुलाया। अन्त में तीन आने में दे गये।"

मैंने कह दिया—चोरी का होगा।

"यह आप कैसे कह सकते हैं ?" कबाड़ी बोला—हो सकता है, चोरी का हो। किन्तु यह भी तो हो सकता है कि चोरी का न भी हो। जरूरत क्या चीज होती है, आपको जानने का अवसर काहे को आया होगा। अभी आपकी उमर ही क्या है ? जरूरत पर आदमी सोने की चीज को मिट्टी के मोल बहा देता है। लेकिन वह जरूरत भी जब उस तरह की हो, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के मन के साथ होता है—प्राण के साथ।"

क्षण-भर मैं उसे देखता रहा गया। मन में आया—कैसा धूल-भरा हीरा है ! देखने-भर को कबाड़ी !

खड़े-खड़े बड़ी देर हो गयी थी। फिर मुझे डाक्टर के यहां जाना था। मैं चला आया।

दिन आये और गये। बहुत दिनों तक वह कहीं देखने को नहीं मिला।

[२]

एक दिन की बात है, लीडर प्रेस से लौट रहा था। स्टेशन से चौक आने के रास्ते में जब कोई इक्का न देख पड़ा, तो पैदल ही चल दिया। देखा, एक दूकान के सामने, उसके सहन में, अनेक टुकड़ियां बैठी हुई कलोल कर रही है। प्रायः सब के हाथ में ताड़ी-भरी बोतल और करई है। विचित्र प्रकार के उस जन-रव में, झूमती, गाती, हँसती, अठिलाती हुई प्राणपोषक उन

लहरियों को, क्षण भर देखने के लोभ को जब मैं संवरण न कर सका, तो एक ओर खड़ा हो गया।

एकाएक समीपस्थ एक टुकड़ी में से कोई बोल उठा—आइये बाबूजी, आइये, कुरसी डलवाये देता हूँ।—अरे एक कुरसी भेजना चौधरी साहब। बाबूजी आ गये हैं।

मैंने बहुत कुछ नाहीं नूहीं की, किन्तु वह किसी तरह न माना। तब मुझे विवश होकर वहां बैठना ही पड़ा।

बैठने का एक कारण था। मुझे उस व्यक्ति की मुखाकृति पर कुछ संदेह हो रहा था। बार-बार यही मेरे जी में आता—इसे कहीं देखा है। यह कोई परिचित मालूम होता है।

कुरसी पर बैठते ही उसने पूछ दिया—आज इधर कैसे आ निकले? मैंने कहा—लूकरगञ्ज से लौट रहा हूँ। कोई इक्का नहीं देख पड़ा, तो सोचा, पैदल ही टहलते हुए चौक तक चला चलूँ, वहां इक्का मिल ही जायगा। टाइम भी नौ बजने का हुआ। यहां यह चहल-पहल देखकर ज़रा-सा खड़ा हो गया।...लेकिन मैंने तुमको पहचाना नहीं।

"हाँ, आपने काहे को पहचाना होगा! अच्छा, पहले ज़रा-सा इसका मज़ा तो लीजिये।"

जिह्वा को दांतों-तले लाकर मैंने उत्तर दिया—राम कहो! ऐसा कहीं हो सकता है?

"तो कोई बढ़िया मेल की—ह्विस्की या जानीवाकर मँगवा दूँ ?"

"ना भाई, मुझे इस तरह का कोई शौक नहीं है।"

"तो थोड़ी-सी बङ्गाली मिठाई तो खानी ही पड़ेगी।"

"अरे नहीं भाई साहब, मैं बीमार आदमी ठहरा, मिठाई खा नहीं सकता।"

"तो दूध थोड़ा-सा गरम-गरम। हँ-हँ भागकर अब कहां जाइयेगा ?"

"अच्छी बात है।...तो फिर वहीं चल कर पी लेंगे।"

न, आपने मेरी इतनी बातें नहीं मानीं। पर अब यह इतनी सी बात तो मेरी माननी ही पड़ेगी।...यहीं पीना होगा—हमारे पास, इसी तरह बैठकर।

मैं अब इनकार न कर सका। उसने झट से एक रुपया निकाल कर एक आदमी के हवाले किया और कहा—शीशे का गिलास, मीठा गरम दूध और पान। समझे ? हां, बस जाओ।

अब मुझे कुछ-कुछ खयाल आया, हो-न-हो यह वही कबाड़ी है।

वह उसी क्षण बोल उठा—तो आपने मुझे पहचाना नहीं ! बात यह है कि मैं थोड़ा-सा बदल भी तो गया !

मैंने कहा—अभी-अभी, तुम्हारी इस बात के शुरू होते-होते मैंने पहचान पाया। पुनः तुमको अपने सामने पाकर

मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। लेकिन तुमको मैं बड़ा विचारशील मानता आया हूँ। यह जगह तो तुम्हारे लायक नहीं है।

"क्या बात कह दी अपने! ओह! मैं तो जैसे कृतार्थ हो गया! (पास बैठे हुए व्यक्ति की ओर संकेत करके) यह तो लाख रुपये की बात कह गये बाबू साहब!"

दूकान में पेट्रोमैक्स जल रहा था और उसका मुँह उस ज्वलन्त प्रकाश के सामने पड़ता था। ऐसा आनन्द विह्वल हो उठा कि आँखों में आँसू झलक पड़े।

फिर बोला—बस बाबू साहब, इसी दिन के लिए, रात दिन, सैकड़ों तरह के पाप किया करता हूँ! दो आने की चीज के दस आने वसूल करता हूं। गंगाजी की क़सम खाने में भी कभी चूकता नहीं। अपना सच्चा भेद किसी को देता नहीं। हमेशा झूठ बनावटी, रंगी-चूंगी, लच्छेदार बातें—और इतनी सफ़ाई के साथ कि ग्राहक पैसा उधार लेकर भी सौदा ख़रीद ले! यह सब वर्ष-भर में सिफ इसी दिन के लिए। और यह दिन कितनी प्रतीक्षा के बाद आता है, कैसे बताऊं! मैं यहां रहता नहीं; यहाँ क्या, कहीं भी लगकर नहीं रहता। निरन्तर जगह-बजगह चक्कर लगाना ही मेरा काम है। लेकिन जब यह दिन आने को होता है, तभी यहाँ, कुछ पहले से, आ जाता हूँ। ज्यों-ज्यों यह दिन निकट आने लगता है, शरीर में स्फूर्ति, जीवन में उल्लास और

प्राणों में अमृत-सा घुलने लगता है। वर्ष-भर की जीवन की मन्दता, रात-दिन की मूक विचार-लहरें, क्षण-क्षण के कुतूहल, विस्मय और वेदना-विदग्ध आघात आप ही आप विशृङ्खलित हो जाते हैं। अपना तन-बदन भी अच्छी तरह संभालकर नहीं रखा सकता। ऐसा जान पड़ता है, जैसे यही दिन मेरे जीवन में एक सोने का दिन है। इसीलिए जो कुछ भी कर डालो, थोड़ा है।

इसी क्षण दूध आ गया। कबाड़ी बोला—आप दूध पी लीजिये और मैं भी इसे समाप्त कर लूँ, तो और बातें भी बतलाऊँ, जिसमें आप किसी मुग़ालते में न रहें।

दो-चार घूँट दूध पी लेने के बाद मैंने जो एक बार उसकी ओर देखा, तो वह मुसकराने लगा। बोला—अब कहिये बाबू साहब, ऊपर से देखने में आपका यह दूध-भरा गिलास भी बिलकुल उसी तरह लगता है कि नहीं, जिस तरह यह बोतल खाली! अब बोलिए, असलियत से जो लोग जानकार नहीं हैं, उनके लिए मुझ में और आप में क्या भेद रह गया? आज बिलकुल ऐसे ही, मैं इन लोगों के बीच में बैठकर, ज़रा देर के लिए, यहाँ इस चुहल का आनन्द लेने लगा।···पीजिए, पीजिए साहब; आप रुक क्यों गये?

मैंने कहा—मैं अपनी भूल के लिए पछता रहा हूँ। बिना जाने-बूझे ऐसी बात कह दी, जिसे सुनकर आपको चोट पहुँची।

वह बोला—मुझे चोट-ओट कुछ-भी नहीं लगी। हाँ, आनन्द जरूर आगया।...जिसे आप चोट कहते हैं, वही अब मेरे जीवन का सुख है। कोई उस दिशा की ओर से जरा-सा छू भी देता है, तो यह छलकन गगरी आप ही आप टपकने लगती है!

और सचमुच, देखते-देखते, बात की बात में कुछ आँसू उसकी आँखों से टपक ही पड़े! देर अस्थिर रहने के बाद, अपने साथी की ओर देखकर उसने कहा—अब बाकी तुम्हीं पी लेना महतो। मैं अब पी नहीं सकता। जी जाने कैसा हो रहा है!...

दूध पीकर गिलास मैंने वहीं रख दिया और पान खाकर मैं उसके साथ-साथ चल दिया।

[३]

अब मैं स्टेशनवाली धर्मशाला में, उसकी कोठरी में, एक चारपाई पर बैठा हुआ उसकी बातें सुन रहा था—

"बस, सिर्फ एक दिन के लिये, वह मेरे जीवन में आयी थी और वह यही आज का दिन है। घोड़ी-घोड़ों की दलाली का मेरा पुराना व्यवसाय था। पिता-पितामह यही करते आये थे। मैं उन दिनों जवान तो हो गया था, लेकिन काम-धाम से मुझसे कोई मतलब न था। दिन-भर या तो मटरगशती में बिताता या घर पर पड़े-पड़े उपन्यास पढ़ने में। शाम गुदड़ी बाजार में कटती थी। सस्ती-मही चीजें खरीदने का मुझे

बचपन से ही शौक था। एक दिन मेरे हाथ में पड़ गयी एक ऐसी पुस्तक; जो कीमती तो ज्यादा न थी लेकिन अप्राप्य थी। उसे लेकर मैं गुदड़ी बाजार से लौटने को ही था कि एक लड़की ने उस पुस्तक को मेरे हाथ में देखकर कह दिया - जरा-सा इसे देख सकती हूं ?

मैंने कहा—शौक से।

और पुस्तक मैंने उसके हाथ में दे दी।

उलट-पुलटकर, एक आध पेज को जरा-सा पढ़कर, वह बोली—लेकिन मैं तो इसे घर पर ले जाके पढ़ना चाहूँगी। लौटा मैं जरूर दूँगी, इसका आप विश्वास कीजिये।

मैंने उसे अपने घर का पता बतला दिया। उसने कहा—बस, मैं अपने नौकर के हाथ आपके पास इसे पहुँचा दूँगी।

आप सच मानियेगा, मैंने अपनी संकोचशीलता के कारण उससे उसका नाम तक नहीं पूछा। हाँ, एक-आध बार जी भर कर उसे देख जरूर लिया। कैसी उसकी कमनीय शोभा थी, कैसी छवि-माधुरी, क्या बतलाऊँ! एक अत्यन्त साधारण श्रेणी के नागरिक का बेटा क्या जाने कि बड़े आदमियों की बहू-बेटियां कैसी सुन्दर होती हैं। फिर वह सुन्दरता, जो बाहर से इतनी झलमलाती है, निकट उसकी क्या स्थिति है, इसके पहले, कभी, इसका बोध ही नहीं हुआ था। बस, उस दिन से मेरा जीवन एक स्वप्न बन गया।

अब दूसरे-चौथे कोई-न-कोई पुस्तक लेने के लिए उसका नौकर मेरे पास आने लगा। इसमें क्या जाता था? हाँ, एक विचित्र प्रकार का आनन्द मैं अवश्य पाने लगा। पुस्तक जब लौटकर आती, मैं उसे उलट-पुलट कर देखता, तो उसमें यत्र-तत्र कुछ निशान लगे मिलते। उन चिह्नित स्थलों को मैं बड़े मनोयोग से पढ़ता और उसकी विचार-धारा की समीक्षा करता। कहीं-कहीं पर केवल चिन्ह न होकर यदि एक आध वाक्य भी लिखा रहता तो मैं उसको पढ़कर और भी अधिक सुख का अनुभव करता। प्रायः सोचता रहता—एक ऐसी अनङ्ग लतिका के साथ मेरा परिचय है, यही कौन कम सौभाग्य की बात है।

अपने विचारों का मैं आपको क्या परिचय दूँ? आप के सामने अपने हृदय को मैं कैसे दिखलाऊँ? एक वाक्य में सिर्फ इतना कह देना चाहता हूँ कि न तो मैंने कभी अपने को बहुत साधु समझा, न एकदम असाधु। जैसा कुछ हूँ, बस वैसा समझने की चेष्टा में निरत रहा। निरन्तर मेरे सामने एक उद्देश्य काम करता रहा और वह यह कि उचित से अधिक की आशा करना अनधिकार-चेष्टा है। विवाह हो गया था और मैं अपने आप में सुखी था। तब मैं क्यों कोई ऐसी कल्पना करता, जिसका मैं अधिकारी नहीं था।

लेकिन उन दिनों मेरी स्थिति कुछ बदल गयी थी। किसी

भी प्रकार मैं इस लोभ को संवरण न कर पाता था कि किसी-न-किसी बहाने मुझे उसका दर्शन हो जाय पर एकाएक, अनायास, वह दिन भी आ गया। एक बार एक पुस्तक में रखा एक पत्र मिला—कल प्रात:काल, आठ बजे कृपया मेरे-यहां चाय का निमन्त्रण स्वीकार कीजिये।

मैं उससे मिला, तो मैंने अपने-आप को एक कल्पना-लोक में पाया। मैंने अनुभव किया कि मेरा भी एक जीवन है।—एक सभ्य नागरिक का जीवन—हास-विलास से समन्वित।

उसने मेरे कुटुम्ब का हाल-चाल पूछा।

मैंने कच्चा चिट्ठा बतला दिया।

वह कुछ गम्भीर हो गयी। फिर अधिक देर तक मेरे साथ बैठकर बातें करना उसके लिए दुष्कर हो उठा।

मैं उसकी भाव-भङ्गी देखकर सब कुछ जान गया। आवश्यक कार्य का बहाना करके तब मैं स्वत: उठकर चला आया।

अब मेरे यहां से पुस्तकों का वह गमनागमन भी बन्द हो गया! मैंने सोच लिया, चलो यह भी अच्छा हुआ। जहां था, वहीं फिर पहुँच गया।

अब कभी-कभी जब उसकी याद आती, तो किसी-न-किसी काम में लग जाता। अपने को भुलावे में डालने की चेष्टा करता और अपने प्रति क्रुद्ध हो-होकर पूछता—तू उसका था कौन? उस की स्मृति से अपने आप को उद्विग्न कर डालने का तुझे अधिकार

ही क्या है ? वह तेरी होती कौन है ? तू अपना मुँह शीशे में क्यों नहीं देखता ? उसकी ? स्थिति और योग्यता के सामने तू चीज़ क्या है ?

फलतः दिन चलते गये और वह उद्वेलन भी उत्तरोत्तर क्षीण होने लगा। प्रत्येक प्रकार से मैं उसे भुला सकने में सफल हुआ। किन्तु हायरे दुर्भाग्य ! क्रम-क्रम से मेरे जीवन अन्धकार ही अन्धकार आच्छन्न होता चला गया। पहले गृहिणी का स्वर्ग-वास हुआ, फिर माता-पिता का।...अब मैं क्या करता ? कुछ दिन तो किसी तरह व्यतीत हुए, पर ज्यों-ज्यों बेकारी बढ़ती गयी, जीवन के साथ-साथ मेरी वेश-भूषा में भी वैसा-ही-वैसा अन्तर पड़ता चला गया। उस समय मानाप-मान का भी बड़ा विवेकी था। चाहा कि न इलाहाबाद सही, कोई दूसरा ही नगर देखूँ। पुराना घर अभी छूटा नहीं था; लेकिन मैं अब उसे छोड़-ने ही वाला था कि एक दिन फिर उसका नौकर आकर मुझे एक पत्र दे गया। उसमें एक पंक्ति-भर थी—आज ही किसी समय आकर मिल लें, तो अच्छा हो। कम्पनी बाग़ के बीच वाले पार्क में, प्रातः सात बजे।

मैं फिर मिला। एक-आध बात करने के बाद वह एकाएक रो पड़ी। लेकिन मुझे अपने जीवन का दुःख उतना नहीं था, जितना सुख उससे मिल पाने का था। मुझे कुछ भ्रम भी हो गया। मैंने उसके सम्बन्ध में यह भी सोच लिया कि उसके

दुख का उद्गम मेरा आन्तरिक सङ्कट है। किन्तु मैं तब भी स्पष्टतया यह न जान सका कि उसकी वास्तविक स्थिति क्या है ? खैर, हम लोग फिर अपने-अपने घर चलने को हुए। बिदा होते समय उसने मुझे सौ रुपये का एक नोट भी दिया।

इसी समय दस बजने के घण्टे की जो आवाज हुई, तो कबाड़ी ने कहा—आपको देर बहुत हो गई। खैर, अब मैं जल्दी कथा समाप्त करता हूँ।...हाँ, तो इसके बाद हुआ यह कि उन रुपयों से फिर छः महीने किसी तरह कट गये।

एक दिन फिर उसका पत्र आ गया। फिर मिलने का आमन्त्रण। एक होटल का सुसज्जित कक्ष और हम दोनों! अपनी स्थिति स्पष्ट करते-करते वह रोयी, खूब जी-भर कर रोयी। फिर जब शान्त हुई, तो उसका दक्षिण बाहु मेरे वाम स्कन्ध को लेकर गले से आ मिला।

अब कबाड़ी फूट-फूट कर रो पड़ा। बोला—बस, सिर्फ उसी दिन के लिये वह मेरे जीवन में आई। उसने कहा था—"आज मुझे जी-भर कर प्यार कर लो। दो दिन का जीवन, क्या जाने फिर कभी मिलना हो—न हो।"

बस, उसी दिन की स्मृति में यहाँ इलाहाबाद आ जाता हूँ। आज अकस्मात यहीं एक पुराना मित्र मिल गया और उसने यहाँ बैठ कर यहाँ की चहल-पहल देखने का प्रस्ताव कर दिया। मैं भी इनकार न कर सका।

अब मैं चलने के लिये उठ खड़ा हुआ। द्वार तक भेजने के लिये वह मेरे पीछे-पीछे चला आया। रास्ते में अँधेरा था। मैंने झट अपने टार्च का स्विच दबा कर सामने ज्वलन्त आलोक फैला दिया।

कबाड़ी बोला—जान पड़ता है, वही पुराना टार्च है। काम तो दे रहा है न?

मैंने कुछ उत्तर न देकर जब वह टार्च उसी को देते हुए कहा—इसे अब तुम, मेरी भेंट के रूप में, अपने पास ही रख लो, तो वह कुछ कह न सका; मुझे देखता ही रह गया।

मैंने टार्च उसके हाथ में दे दिया था। मैंने समझा था, दृढ़ता से वह उसके हाथ में जा पहुँचा है, परन्तु वह तो उसके हाथ से गिर कर अनेक सीढ़ियों से लुढ़कता-पुढ़कता हुआ, एकदम नीचे, उस दशा को प्राप्त हो गया कि हतप्रभ होकर मैं उसे अच्छी तरह देख भी न सका।

हम लोग नीचे खड़े हुए थे और टार्च का काँच टुकड़े-टुकड़े होकर भूमि पर, बिखरा पड़ा था।

कबाड़ी बोला—आपकी भेंट की वस्तु के इस स्वरूप पर मुझे हार्दिक दुःख है।

और मेरे मुँह से निकल पड़ा—उस दिन, तुमसे खरीदने के बाद मैंने आज ही बाहर निकाल कर इसका उपयोग किया था!

इन्द्रजाल

दिलीप ने देखा, राधा झट से दौड़ कर उसके निकट नहीं आई, वरन् खम्भे की ओट में खड़ी हो गई। क्षण-भर उसने उसकी ओर देखा, फिर उस दृष्टि-विस्तार को समेटती हुई वह एकाएक विमनस्क हो उठी। दिलीप को प्रतीत हुआ, राधा लजा गई है। वह अब दूसरे की हो चुकी है। विवाह के पश्चात् उसका गौना भी हो गया है, किन्तु दिलीप अपनी दृष्टि में उसे ग्रहण करता ही गया। किसी भी प्रकार उसकी ओर से अपने आपको विरुद्ध कर लेने की भावना वह स्वीकार न कर सका। वह बराबर सोचता रहा—वही तो राधा है, अभी तक वैसा ही भोला मुख है, वही विमोहक छवि-माधुरी। कहीं कुछ भी तो नहीं बदला है। हाँ, इतना ही परिवर्तन हो गया है कि उसकी कुन्तल-राशि की मध्य-रेखा पर, भाल के उत्तर-प्रान्त में, थोड़े सिन्दूर-विन्दु और झलक उठे हैं। साथ ही पैरों की अँगुलियों में दो-दो श्वेत मछलियाँ भी और आ गई हैं। किन्तु ये सब तो बाह्य परिवर्तन हैं। दिलीप को उससे कोई

आपत्ति नहीं हो सकती। राधा जो उसके पास झट से आ नहीं सकी, एक बार उसे देख कर ही ठिठुक कर रह गई, अपने इस मनोभाव से क्या यह स्पष्ट रूप से नहीं प्रकट करती कि उसके मन-प्राण में अब भी वह उसी प्रकार मूर्तित है, किसी भाँति उसे बाहर नहीं फेंक सकी है।

और राधा ?

उसके मन में एक बार आया कि वह भाग कर पीछे लौट जाय, या और कहीं जाकर छिप रहे। दिलीप को उसका बोध तक न हो सके। किन्तु एक बार जो उसने उसे देख पाया, तो उसके पैर भूमि से चिपक गये। नतमुखी होकर वह जैसी खड़ी थी, वैसी ही खड़ी रह गई। लौट पड़ने की बात को लेकर उसका अन्तःकरण तत्पर न हो सका। वह सोचती रह गयी—दिलीप, माना कि उसका कोई नहीं है, तो भी वह अभी तक उसका 'दिलीप दादा' तो बना ही है। क्या ऐसा भी कभी सम्भव हो सकता है कि वह अपने ऐसे 'दादा' से लजा कर छिप रहने को तैयार हो जाय ! दिलीप के लिए जैसी यह अवहेलना की बात है, वैसी ही स्वतः उसके लिये भी अशिष्टता -पूर्ण। विमल मन के लिये लिप्सा—अमर्यादित, अवैध और अनयिन्त्रित लिप्सा—जैसे वर्जित है, वैसे ही अप्रीतिकर, अशिष्ट, अशोभन, और तिक्त उपेक्षा-भाव भी तो सर्वथा अनुचित है, क्षुद्रता-द्योतक।

राधा की माँ अकस्मात् एक नवागत को आँगन में देख कर पहले तो एकदम विस्मयाकुल हो उठीं, फिर क्षण-भर में ही उसे पहचान कर विपुल उल्लास से बोलीं—"आओ लल्ला, बैठो।" और एक छोटी-सी मचिया बैठने के लिए उन्होंने दिलीप के आगे कर दी।

❀ ❀ ❀ ❀

दिलीप कभी पन्द्रह वर्ष का था, और तहसील के हाई स्कूल में पढ़ता था। बड़े दिन की छुट्टियों में घर आया था। ढेरों संतरे, सेब, केले, काजू, किशमिश, पिस्ता, अखरोट अपने साथ लाया था। संध्या का समय था। राधा उस समय उसके घर में ही, उसकी मां के पास बैठी हुई, उससे बनियाइन बुनना सीख रही थी। दिलीप को आया जानकर वह उठ बैठी, और बोली—"चाची, अब मैं जाती हूं।"

राधा ग्यारह वर्ष की हो गई थी, और गाँव के स्कूल में पढ़ती थी। बचपन से ही वह दिलीप को दादा कहती आ रही थी। इससे भी पूर्व उस समय—जब दिलीप सात वर्ष का था और गांव के स्कूल में पढ़ता था—राधा उसके आगे नंगी खेला करती थी। दिलीप स्कूल से लौटता, राधा दूर से उसे देखकर दौड़ पड़ती, और उसके पैरों तक लटकती धोती को छूती हुई उससे लिपट जाती। राधा कनक-वर्णा थी और शरीर से भी बहुत स्वस्थ रहती थी। रास्ते-चलते पड़ोसी तक उसे गोद में

लेकर खिलाने में सुख पाते थे। दिलीप के कोई बहन न थी, न उसके घर में कोई और छोटा बच्चा। वह भी पड़ोस की राधा को दुलराने-खिलाने में बड़ा सुख अनुभव करता था।

हाँ, तो राधा को अपने घर लौटता हुआ जानकर दिलीप माँ से कहने लगा—"अम्मा, राधा जा रही है।"

राधा चल खड़ी हुई थी। दिलीप की मां ने कहा—"अरी, क्या चली ही गई रधिया?"

राधा खड़ी होगई, और वहीं से बोली—"क्या है चाची?"

"अरी सुन। बड़ी शरमीली बनी है।"

राधा लौट पड़ी। एक बार उसने दिलीप की ओर देखा, एक बार चाची को। फिर नीचे की ओर मुँह करके चाची के पास आकर खड़ी हो गई।

चाची ने ढेर-के-ढेर फल और मेवे राधा की धोती के छोर में भर कर बांध दिये। वह लौटकर जाने लगी। चाची ने उसकी ठुड्ढी उठाकर, बाम कपोल पर प्यार की एक हलकी चपत-सी जमाकर कहा—"ठगिनी कहीं की!" फिर मन-ही-मन सोचा, विचारकर स्थिर किया; कि इसके साथ दिलीप का व्याह हो सकता, तो कितना अच्छा होता!

राधा और भी लजा गई। कुछ बोली नहीं, चलती ही गई। फिर दिलीप जब तक पढ़ने को चला नहीं गया, राधा चाची के घर नहीं आई।

दिलीप चाची की चरण-धूलि मस्तक पर लगाकर माचिया पर बैठ गया।

चाची ने पहले तो आशीर्वाद दिया। बोलीं—"सदा सुखी हो लल्ला।" फिर पूछा—"कब आये?"

"कल आया हूँ चाची। दस दिन की छुट्टी है।" दिलीप ने नपे-तुले शब्दों में कह दिया। वह इधर-उधर देखता रहा। उसके जी में आया कि वह उठकर तुरंत चल दे, किन्तु कुछ सोचकर थोड़ी देर बैठ लेना ही उसने उचित समझा।

राधा कहीं चली गयी थी।

चाची भीतर जाकर कुछ खोजने लगीं।

आँगन के एक कोने में तुलसी का पेड़ है। दिलीप खड़ा होकर उसके निकट जा पहुँचा। वह देखने लगा कि मिट्टी का एक दीपक रक्खा है, जिसमें अधजली बत्ती पड़ी है और थोड़ा-सा जमा हुआ घी उसे ढके हुए है। उसे स्मरण हो आया कि राधा नित्य इसी दीपक से तुलसी की आरती करती है।

वह सोचने लगा—मनुष्य का जीवन भी एक दीपक है! बत्ती बदल जाती है, किन्तु दीपक वही बना रहता है। घी हुआ या तेल, जब कम पड़ जाता है, तभी और छोड़ दिया जाता है। यों दीपक और जीवन, दोनों के लिये स्नेह की अपेक्षा है। स्नेहाभाव यदि कभी पास न टिक सके, तो बत्ती आज है, और सदा रहेगी। किन्तु जब स्नेह चुक गया हो, तब बत्ती कैसे टिक

सकती है, कब तक टिक सकती है ? वह जल जायगी, और दीपक में उसका शरीर भर, कुछ देर के लिए, रह जायगा। फिर तो वायु का एक झोंका ही उसे चिरशान्त कर डालेगा। जीवन के भीतर जो बत्ती पड़ी है, जिसे हम चाहे जो कह डालें—कल्पना की रानी या स्वप्न की प्रतिमा—तभी तक ज्योति रहेगी जब तक स्नेह रहेगा। और, जब वह स्नेह ही नहीं रह गया, तब वह प्रभा, प्रकाश, कहां दृष्टिगत होगा।

दिलीप के मन में आया—तो क्या राधा के जीवन-रूपी दीपक में, बत्ती के रूप में, सचमुच कोई दूसरी प्रतिमा है ?

चाची एक कटोरे में कुछ मिष्टान्न ले आई, एक गिलास में गरम दूध, दूसरे में जल। फिर भीतर जाकर बोली—"कहां गई री ! रधिया !"

राधा बोली—"यहां बैठी हूँ अम्मा।"

चाची ने वहीं से कह दिया—"अरी, अपने दादा के लिए पान तो लगाकर दे जा।"

पहले ही राधा ने अपने को बहुत सँभालकर उत्तर दिया था। कहीं कंठ का आर्द्र भाव न प्रकट हो जाय। अब मां का यह आदेश पाकर तो उसका सारा संयम ही भंग हो गया। विचार-लीन, रुद्ध, आंसू निकल ही पड़े।

मिठाई खाते हुए दिलीप बोला—"और कहो चाची, राधा को ससुराल कैसी मिली ?"

"अब जैसी कुछ है, अच्छी ही है लल्ला। कहने को बत्तिस, लेकिन असल में चालिस तक की उम्र है। चँदोवा वालों से साफ हो गया है। यों खाने-पहनने के लिए सभी कुछ है, सोने के गहने हैं, घर में गाय-भैंस, दूध-घी की कमी नहीं है।"

चाची ने इस तरह कहा कि बाहर के व्यावहारिक संतोष के साथ भीतर की व्यथा, दूध के साथ पानी की भांति, किसी प्रकार मिल न सकी, वरन् गंगा-यमुना के आकस्मिक मिलने की-सी शुभ्र-श्याम रेखाएँ पृथक्-पृथक् झलक उठीं।

दिलीप ने कहना चाहा—चलो, व्याह हो गया, यह बहुत अच्छी बात हुई। किन्तु फिर चाची के शुष्क, विषण्ण मुख और उनके तत्कालीन अंतः-निःसृत निःश्वास को लक्ष्य करके वह कुछ कह न सका।

राधा जब से पान लगा रही है, यही सोचती है कि इन पानों के साथ उसका जरा भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे ये निर्जीव पान हैं, वैसे ही उनके साथ उसकी अँगुलियों का अचेतन स्पर्श है। चाहे चूना अधिक हो जाय, चाहे कत्था; वह कुछ नहीं जानती। वह कुछ जानना नहीं चाहती। ये यहाँ आये ही क्यों? क्या जरूरत थी इनके यहाँ आने की? फिर पूछते हैं कि कैसी ससुराल मिली? यह जान कर तुम करोगे क्योंकि मुझे क्या मिला है, और क्या नहीं मिला? मान लो, मुझे कुछ भी नहीं

मिला, तो क्या तुम उसकी पूर्ति कर दोगे ? या मान लो, सब कुछ मिला है तो इन सब बातों को जानकर तुम करोगे क्या ?

दिलीप जलपान कर चुका है और राधा उसे पान देने जा रही है। नमित दृष्टि है उसकी। मोतियों से गुंथे हुए उसके कानों के रिंग डोल रहे हैं। धीरे-धीरे पग धरती हुई वह आ रही है। नेत्रों को ऐसा संयत, ऐसा अविचल, बना रक्खा है उसने, जैसे दिलीप की ओर देखना उसके लिये वर्जित है, पाप है। निकट आकर उसने पान अपनी माँ के हाथ में दे दिये। माँ ने चाहा कि कह दे—दद्दा को ही क्यों नहीं देती; किन्तु राधा की मुद्रा की ओर देख कर उसने उसके हाथ से पान लेकर दिलीप को दे दिये।

दिलीप अब इस घर में कभी न आयेगा। राधा तो खैर, दूसरे की हो ही चुकी, लेकिन चाची भी बदल गई हैं। न, अब उसे इस घर में कभी नहीं आना होगा; क्योंकि गोस्वामी तुलसीदासजी ने बड़े अनुभव से यह दोहा रचा था—

आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह;
तुलसी तहाँ न जाइये कंचन बरसे मेह।

पान लेकर दिलीप बोला—"अब चलूंगा चाची।"

चाची ने अप्रकृत विस्मय का भाव प्रदर्शित कर कहा—"जाओगे ? अच्छा।"

दिलीप चाची के पैर छूकर चल दिया।

चाची ने पुनः पूर्ववत् आशीर्वाद दिया—"सदा सुखी रहो।"

दिलीप चलता ही गया, उन्मथित-सा, विमूढ़-सा। लौटते हुए किसी की ओर देखा तक नहीं।

राधा पान देकर भीतर चली गई थी। किन्तु जब उसे प्रतीत हुआ कि दिलीप जा रहा है, तो वह तुरन्त लौट कर खंभे की ओट में खड़ी हो गई।

दिलीप चला गया, चाची रसोई बनाने में लग गई। राधा धीरे-धीरे बाहरी द्वार तक जा पहुँची। जिस अकंपित विवेक से उसने अपने आपको चारों ओर से खींच-खाँच कर बाँध रक्खा था, प्रच्छन्न प्यार के एक ही झोंके ने उसे विकल्प रूप से ऐसा झकझोर डाला कि किसी भी प्रकार वह अपने आपको प्रकृतिस्थ न रख सकी। द्वार पर खड़ी होकर वह सामने की ओर देखने लगी।

पैरों के चप्पलों तक लटकती और दोनों ओर चक्कर दे-दे कर घूमती हुई धोती की चुन्नट, जानुपर्य्यन्त आवृत खादी की श्वेत कमीज और सिर पर छल्लेदार केश-राशि। जहाँ तक दृष्टि-पथ में उत्तरोत्तर धुंधले हो रहे इस दृश्य को राधा की आँखें ग्रहण कर सकीं, राधा खड़ी रही। अंत में जब दिलीप का वह पृष्ठ-भाग उसकी दृष्टि से सर्वथा लुप्त ही हो गया, तो वह फिर भीतर लौट आई। उसके मन में आया कि दिलीप

अगर उसका कोई नहीं है, तो यह संसार मिथ्या है, जीवन मिथ्या है कहीं कुछ भी सत्य नहीं है। सभी व्यर्थ है।

❀ ❀ ❀

दिलीप की माँ कह रही थी—"अब मुझसे और न सहा जायगा मुन्नू। वह जब अच्छी तरह थे, तब तू पढ़ रहा था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि उसी समय बहू आ जाती और वे इस आँगन में उसके पायल की झनकार सुनकर अपनी साध पूरी करते। मैं उनसे कहती-कहती हार गई, पर उस समय तुम पिता-पुत्र किसी तरह न माने। मैं समझती थी, ऐसी जल्दी क्या पड़ी है। एक-दो वर्ष और सही। पर मेरा वह धीरज ही मेरे लिये अभाग्य बन गया, और वे चलते-फिरते एक दिन चलते बने।...अब हँसते-खेलते पड़ोस के बहू-बेटों को देखती हूँ, तो ऐसा जान पड़ता है कि यह सब धन-दौलत कुछ नहीं है। जब कोई इसका भोग करने वाला न होगा, तो यह सब बेकार है।.... मैं तेरे लिये कोई चीज नहीं हूँ मेरी इच्छाओं का कोई मूल्य नहीं। जान पड़ता है, और तो सब चला ही गया है, तू भी अब अपना नहीं रहा है।"

उनकी आँखों में आँसू भर आये।

दिलीप बड़ा जिद्दी है। उसने तय कर लिया है कि वह अविवाहित रहेगा। राधा ने उसे भुला दिया है। वह उसे भुला सकती है। वह नारी है, हिन्दू-नारी। बचपन में उसका ब्याह

हुआ था। तब वह जानती भी न थी कि दिलीप उसका कौन है। वह अपने माता-पिता से मुंह खोल कर क्या कहती, कैसे कहती? उसके बाद—उसके बाद—वह कर ही क्या सकती थी?

किन्तु दिलीप ने पुरुष का हृदय पाया है। राधा उसकी होकर भी दूसरे की हो कर रह सकती है, तो क्या दिलीप उसी का होकर, फिर किसी का न होकर, नहीं रह सकता? प्रेम कोई विनिमय नहीं है। वह तो उत्सर्ग का प्रतीक है। राधा ने उसे भुला दिया है, तो क्या इसीलिये दिलीप के लिए उचित है कि वह भी उसे भूल जाय? न, दिलीप से ऐसा हो नहीं सकता। वह जीवन को क्षण-भंगुर मानता आया है। प्रेम के आगे वह ऐसे तुच्छ जीवन को कुछ भी महत्व न देगा। जिस प्रकार अब तक चल रहा है, उसी प्रकार चलेगा।

दिन चल रहे हैं। दिलीप डाक्टरी पढ़ रहा था। वह अब एम्० बी०, बी०, एस्० होकर आ गया है। देहात छोड़कर अब वह कानपुर नगर में रहता है। उसके साथ सिर्फ उसकी माँ है, और कोई नहीं। उसकी माँ नित्य सवेरे ताँगे पर बैठकर गंगा नहाने जाती है। दोपहर को जब लौटती है, तो दिलीप भोजन करने आ जाता है। महराजिन उस समय तक भोजन की सारी सामग्रियाँ तैयार कर रखती है। माँ उसे पास बिठाल कर खिलाती है। दिलीप माँ से इधर-उधर की बातें करता है। वह कभी मुस्किरा उठता है, कभी कोई ऐसी बात भी

कर देता है कि माँ या तो उलझन में पड़ जाती है, या दिलीप को भला-बुरा कहने लगती है। दिलीप चुपचाप उन बातों को सुन लेता है।

एक दिन की बात है। जान पड़ता है, नवम्बर मास का वह दिन जीवन के सभी साधारण दिनों की अपेक्षा कुछ नवीन था, उसकी कोई विशेषता थी। तभी तो दिलीप माँ की उस बात को सुन कर कहने लगा—"अच्छा तो अम्मा, मैं अब ब्याह करना चाहता हूं। पूछो, किस के साथ ?–तो बताऊँ।"

"दिलीप अब भी नटखट बालक बना हुआ है। वह अपनी मां तक से ठठोली करता है। देखो तो, वह कैसी बात कर बैठा है! जिसने अपने जीवन के अट्ठाइस वर्ष यों ही हँसते-खेलते बिता दिये, मां कहते-कहते हार गई, अन्य आत्मीय-जन समझा-समझाकर थक गये, किन्तु दिलीप ने किसी की बात न मानी। और, आज वही दिलीप चला है मां से ठठोली करने! दुष्ट कहीं का—शैतान!"

मां के मन में आया और गया। वह दिलीप की ओर ताकती रही। उसके चिर विषण्ण, चिर-पीड़ित मन-प्राण में दिलीप का यह कथन विषाक्त तीर की तरह जा लगा। दिलीप के लिये यह नई बात नहीं है। इसी तरह मालूम नहीं कितनी बार वह सारी बातें तय कर चुका है, किन्तु दो दिन में ही फिर पलट गया है। क्या उसकी मां इतनी नादान है कि वह दिलीप की इस बात को

सत्य मानकर तरंगित आशा से लहरा उठेगी ? न, दिलीप ठठोली ही कर रहा है।

"किन्तु यह बात, सच पूछो तो, सर्व-साधारण के लिए ठीक हो सकती है। ठठोली वह समझे, जो उसका अभ्यासी हो। दिलीप की मां उसकी बात को ठठोली क्यों समझे ? वह तो मां का हृदय है। कोई और होता, तो वह एक बार समझ लेती कि यह सब शाब्दिक मृग-तृष्णा है, एक प्रकार का वाक्छल ! किन्तु वह तो मां है। किसी भी प्रकार अपने दिपील की किसी बात को, वह अपरूप नहीं देखना चाहती। उसका दिलीप अभी अबोध बालक ही बना हुआ है। अभी उसकी अवस्था ही क्या है ? अभी तो वह बच्चा है। कौन जाने निश्चित मन से ही वह इस प्रकार की बात उठा रहा हो !"

मां ने इधर-उधर भूल-भटक कर सोचा, स्थिर किया। उसकी अम्लान मुद्रा बात-की-बात में आशा के उज्वल आलोक से उद्दीप्त हो उठी।

दिलीप इसी समय पूछ बैठा—"तुम कुछ बोलीं नहीं अम्मा !"

मां ने कहा—"मालूम नहीं, कितनी बार तू इसी तरह की बातें कर-करके मुझे परेशान कर चुका है। इसी लिये तेरी इस बात का विश्वास जाता रहा। तू चाहे सच भी कहे, तो भी मुझे

शंका बनी ही रहती है । मैं अभी तक यही सोच रही थी कि क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि तेरी इस बार की बात सच निकल आये।"

"सचमुच अम्मा, अब मैं विवाह कर लेना चाहता हूँ।" दिलीप उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखकर बोला—"किन्तु जब तुम उसे स्वीकार कर लो, तब।"

अब मां को बोध हुआ कि जो बात उठाई जा रही है, वह निराधार नहीं है। वह बोली—"मुझे स्वीकार क्यों न होगा? यह कैसी बात तूने कही?"

बात के प्रकार में कुछ विस्मय भी झलक उठा।

दिलीप बोला—"जिसके साथ मैं विवाह करना चाहता हूँ अम्मा, वह विधवा है। उसके जीवन को अभी तक किसी ने छू नहीं पाया है। कभी वह बड़ी भाग्यशीला थी; किन्तु विवाह होने के साथ ही, जब संसार की दृष्टि में वह सौभाग्यवती हुई, मालूम नहीं, कहां से उसके सिर पर रक्खा हुआ अमृत विष-घट बन गया। वह प्रकट सौभाग्य उसके लिये सर्वथा अभाग्य सिद्ध हुआ। जिन्दगी के साथ मौत का मेल कहीं सम्भव होता है! सुना है, अब वह विधवा हो गई है। वह एक दुखिया नारी है अम्मा। संसार उसे अभागिनी कहता है। मैं उसके साथ विवाह करके एक बार उसे सौभाग्यवती-रूप में देखना चाहता हूं।"

माँ बोली—"यह मैं कुछ नहीं जानती। मैं तो ब हूचाहती

हूँ; ऐसी बहू, जिसे पाकर मैं तुझे सुखी देखूँ, तेरे उजले भविष्य को देखूँ। अब मुझे यह नहीं देखना है कि वह बहू तू कहाँ से, किस तरह, क्या सोचकर उठा लाया है!"

—यह माँ है दिलीप। इसे माँ कहते हैं। तू समझता है कि माँ के लिए संस्कृति प्यारी है, समाज प्यारा है! लेकिन तूने यह क्यों नहीं सोचा कि माँ के लिये संस्कृति और समाज, कोई चीज़ नहीं है। वह तो अपने भविष्य की ओर देखती है—अपनी एकमात्र आशा की ओर टकटकी लगाकर निहारती रहती है।

दिलीप माँ के उत्तर से चरम आह्लादित हो उठा।

❀ ❀ ❀

नौकर ने कहा—"बहूजी ने आपको वहीं बुलाया है।"

दिलीप फफूंद-स्टेशन से औरैया (इटावा) एक तांगे पर सवार होकर आया था। उसने कभी औरैया देखा न था। वह समझता था, एक साधारण क़स्बा होगा, किन्तु नहर पार करने के बाद जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, वैसे-ही-वैसे उसे प्रतीत हुआ, यह तो एक सुशोभित क़स्बा है। सड़क के दोनों ओर पक्के, खुशनुमाँ मकान और बँगले हैं। पुष्प-वाटिकाएँ और लताएँ उनकी शोभा अपने-आप बतला रही हैं। तहसील के निकट से बाज़ार की ओर मुड़कर उसने एक अढ़तिये के यहाँ पूछा—

"यहाँ कोई आनन्दीप्रसाद अवस्थी रहते थे ? घर के ज़मींदार और सम्पन्न थे।"

उत्तर मिला—"हाँ! अब वह तो नहीं रहे, उनकी मुसम्मात हैं। उधर आगे चलकर, इसी सड़क पर वह जो पीपल का पेड़ दिखाई पड़ता है, उसी से लगी हुई दक्षिण की ओर जो गली गई है, वहीं उनका मकान है।"

दिलीप ताँगे पर बैठ गया। ताँगा उसी ओर चल दिया।

थोड़ी देर में दिलीप एक फाटक के अन्दर था। नौकर ने दिलीप का सन्देश भीतर जाकर कहा। फिर तुरन्त लौट आया और बोला—"बहूजी ने आपको वहीं बुलाया है।"

दुमंज़िला पक्का मकान है। साफ़-सुथरे कमरे। दिलीप ज़ीने की सीढ़ियों से चढ़ता चला गया। आगे उसे एक कमरा मिला। उसमें एक पलँग बिछा हुआ था। खादी की श्वेत चादर अपनी उज्वलता से यह प्रमाणित करती थी कि वह अभी ताज़ी निकाली गई है।

दो बजने का समय था। दिलीप ने देखा, राधा ज़मीन में शीतलपाटी पर बैठी हुई है। ओह, कितनी कृश हो गई है! न वह मांसल देह-यष्टि है, न वह मदिर लावण्य। जैसे सब कुछ खो गया है। जिस राधा को वह देखने आया था, मानो वह कोई और थी। न, यह राधा नहीं हो सकती—कदापि नहीं।

दिलीप अपने-आपको स्थिर न रख सका, उसकी आँखें भर आईं। कमरे के द्वार पर वह खड़ा-का-खड़ा रह गया।

राधा बोली—"खड़े क्यों हो? आओ, इधर निकल आओ।"

दिलीप राधा के पास जिस संकल्प को लेकर आया है, उसकी गति कहाँ है? कहाँ गया उसका वह अविचल उत्साह? कहाँ गये उसके वे उत्फुल्ल लोचन, जो राधा के अंतस्तल को भेदकर उसे चरम बिलोड़ित कर डालेंगे? मनुष्य कितना अभिमान करता है अपनी संलग्नता का! सोचता है, वह असम्भव का अस्तित्व ही न रक्खेगा, इस शब्द को चूर-चूर करके वह सदा के लिए नष्ट कर डालेगा। किन्तु यह नहीं सोचता कि अदृष्ट के एक ही कशाघात से मनुष्य का सारा दर्प, सारा अहंकार, धूल में मिल जाता है।

मनुष्य के समस्त अनुष्ठान और संकल्प उसके एक संकेत मात्र से तुच्छ बन जाते हैं!

दिलीप पलँग पर बैठ गया। वह कुछ बोला नहीं। कुछ पूछ भी नहीं सका। पूछने या बोलने को इस दिलीप के पास क्या कुछ था नहीं? उसके मन में आया कि वह कहे, तुम्हीं को देखने-सुनने चला आया हूं राधा। किन्तु अटूट विश्वास-गर्भित वाणी का यह कथन किसी प्रकार उसके ध्वस्त कंठ से फूट न सका। फिर उसने स्थिर किया कि वह पूछे—क्या हाल-चाल

है राधा ? किन्तु यह तो एक प्रकार का व्यंग हुआ, हाल-चाल क्या उससे अब तक छिपा रह सका है, जो वह ऐसा प्रश्न कर रहा है। छिः ! अपनी राधा से वह इस प्रकार का प्रश्न करे ! यह तो एक प्रकार की अवहेलना होगी उसकी, एक प्रकार की प्रवंचना। न, वह इस तरह का प्रश्न नहीं कर सकता।

राधा सिसक-सिसक कर रो उठी। तब स्थिर होकर, संभलकर, दिलीप ने कहा—"रोओ मत राधा। आज इतने दिनों बाद भी, मैं यही मानता हूं कि मैं होऊँ या तुम, कोई भी हो, सभी अपने कर्म-फल के ही अधीन हैं। कोई कुछ नहीं करता। जो कुछ भी होता है, हमीं अपने आप करते हैं, या किये हुये का पाते हैं। तब हम रोयें क्यों ?"

पूर्व-पत्नी से उत्पन्न दो छोटे बच्चे कहीं खेल रहे थे। इसी समय आ पहुँचे और राधा की गोद में आकर बैठ गये। दोनों लड़कियाँ थीं। बड़ी बोली—"काए कों लोती हो अम्मी। ना लोओ, ना लोओ।" वह धोती के छोर से विमाता के आँसू पोंछने लगी।

छोटी बोली—"अम्मी, जे कोन हैं ?" नन्हीं-सी तर्जनी दिलीप की ओर उठाकर, भोली जिज्ञासा से, कौतुक-भरी चितवन से।

राधा बोली—"यह तेरे मम्मा हैं लल्ली। देख, ये फल ये मेवे लाये हैं। जा-जा, उनकी गोद में जाकर बैठ।"

दोनों खिलौने पहले दिलीप की ओर देखकर रह गये, फिर मुस्किराये। उछलकर एक दिलीप की गोद में बैठ गया, दूसरा उसके कंधे पर।

जीवन में पहली बार दिलीप ने अनुभव किया—

यही संसार का स्वर्ग है, आनन्द-कादंबिनी यहीं बहती है। मानवात्मा का चरम उत्थान यहीं होता है। यही वह स्थल है, जहाँ मनुष्य अपने आशा स्वप्नों को चरितार्थ होते देखकर अनुभव करता है कि देवराज इन्द्र का सुखोपभोग भी मेरे इस सुख के आगे तुच्छ है।

बच्चों के साथ देर तक दिलीप खेलता रहा।

❀ ❀ ❀

रात आई। साथ बैठकर राधा ने दिलीप को भोजन कराया। बच्चे सो गये। वार्तालाप का प्रवाह फिर फूट निकला।

"तो तुम कल ही चले जाओगे? और भी दो-एन दिग रह नहीं सकते?" अपलक दृष्टि से दिलीप की ओर देखती हुई राधा बोली।

"हाँ राधा," दिलीप टहलता और फ़र्श की ओर देखता हुआ, आर्द्र कंठ से कहने लगा—"मैं नहीं जानता था कि मैं खुद इतने दिनों तक स्थिर रह सकूँगा।" फिर थोड़ा रुककर उसने कहा—"मैंने यह भी नहीं सोचा था कि कभी ऐसा भी समय आ सकता है, जब मैं तुमसे मिलकर तुम्हारा इस तरह

समाचार लेने आऊँगा।" फिर कुछ गंभीर होकर बोला—"यह ठीक है कि एक जीवन की आहुति देकर प्राप्त की गई साधना के महत्व को इस प्रकार व्यर्थ कर डालना कोई उत्कर्ष नहीं है। इसके सिवा मैं यह भी मानता आया हूं कि आदर्श जीवन तो त्याग और तपस्या का ही प्रतीक होता है। तो भी मैं इतना जानता हूं राधा कि यह उत्सर्ग, यह समर्पण, हृदय से ही फूटकर सदा नहीं निकला करता। इस चाह के भीतर संस्कृति की एक गहरी आह भी छिपी रहती है। मनुष्य अपने को चाहे तो भूल सकता है। किन्तु उसकी अपने को भुला देने की यह कामना, अपने हृदय का यथार्थ चित्र अंकित करते समय, यह कभी नहीं देखती कि उसकी अमुक रेखा संस्कृति और समाज के लिए सर्वथा अप्रीतिकर, अवांछनीय और अशोभन है, इसी कारण मंद है, धुंधली और अमुक नितांत स्वाभाविक, सब प्रकार से अनिवार्य होने के कारण चरम अपेक्षित है, इसलिये उद्दीप्त। क्या पुलकित रोम-रोम का अकल्पित उल्लास, क्या चिर-शांत समाहित आशा-लता और क्या अश्रुविगलित विवर्ण चेष्टा, उसके लिए सदा समकक्ष ही रहती है।"

राधा बोली—कुछ आवेश में आकर, कुछ उत्तेजित होकर—"तो इसका तो सीधा-सादा अर्थ यह है कि तुम मुझसे नहीं, मेरे शरीर से अपना नाता रखते आये हो। जान पड़ता है, मेरे

प्रेम को तुमने इतना स्थूल-काय समझ रक्खा है कि तुम इस शरीर को छोड़कर अलग से उसे देख ही नहीं पाते ! मैं समझ नहीं पाती दिलीप, आखिर तुम चाहते क्या हो ?"

"मैं एक बार यही जान लेना चाहता हूं राधा, कि हमारे बीच में यह जो संस्कृति और समाज के आतंक की दीवार खड़ी है, उसे हमारा यह प्रेम उल्लंघन करने में जो समर्थ नहीं हो रहा है, उसका कारण क्या है ?—उसके आधार में क्या है ? मैं यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहता हूँ कि हम लोगों में से किसने अपने आपको धोखा दे रक्खा है ? मैं नहीं मानता कि हमारा शरीर और आत्मगत धर्म आज कुछ और है, और कल कुछ और, मैं आज और कल के अंतर से परे पहुंच गया हूँ। जो चीज़ जिसकी है, मैं तो उसे उसी के पास देखने पर विश्वास रखता हूं। क्यों नहीं है, और क्यों नहीं हो पाती, खोजते-खोजते, उसका पता पा लेने पर, मैं उसे छोड़ना नहीं जानता। अपने और जगत् के कल्यान के लिये, दो तड़पती हुई आत्माओं के विच्छेद, विभ्रम और विरोध को ध्वंस करते रहने में ही मैंने अपनी सार्थकता मानी है। मैं बुद्धिवादी हूं राधा। विश्ववंद्य हिन्दू-संस्कृति की दुर्बल वृत्तियों के विध्वंस का स्वप्न देखते-देखते आज मैं केवल अपने विवेक को मानता हूं, और किसी को नहीं।"

इस कथन के प्रारम्भ में दिलीप नतमुख था, मध्य में उसका

मस्तक उन्नत हो गया, और अंत तक पहुँचते-पहुँचते एक अदमनीय आलोक उसके आनन पर ज्योतित हो उठा।

राधा अब अवाक् हो उठी। उसके नेत्र भर आये। एक-एक कर अनेक मोती उसकी खादी की श्वेत साड़ी को भिगोने लगे। दिलीप उसके निकट आकर बैठ गया। राधा उसकी गोद में गिरकर सिसकने लगी। दिलीप अपने रूमाल से उसके आंसू पोंछता हुआ कहने लगा—"रोओ मत राधा, जीवन इस तरह खोने की चीज नहीं है।"

अंत में कुछ सँभलकर राधा बोली—"मैं अब तक तुम्हारी ही रही हूँ। मैंने उनके साथ छल किया था; उन्हें सदा धोखे में रक्खा था। मैं अभागिनी हूँ कि अब तक किसी की न बन सकी। पर अब मैं तुम्हारी बनूंगी; किन्तु..." और उस 'किन्तु' को लेकर राधा फिर सजलनयन हो उठी। किसी प्रकार यह प्रकट न कर सकी कि अब एकमात्र निर्वाण की ओर वह देखना चाहती है दूसरी ओर नहीं।

उस रात को राधा के मन-प्राण तक में प्रविष्ट होकर दिलीप ने नये जीवन का अनुभव किया। उसके प्राणों को प्राण मिले, जीवन को जीवन। वह अपने संसार के निर्माण में लीन, चिर-लीन हो गया। बड़े उल्लास के साथ वह घर लौटा।

* * *

किन्तु—

कुछ ही दिनों बाद दिलीप एक दिन अनन्त आकाश की ओर देखते-देखते विमूढ़ हो उठा। उसके मानस-पट पर एक ओर इस संसार के प्रति चरम उपेक्षा चारों ओर से आकर एकत्र हो उठी, दूसरी ओर कभी-कभी उसके मुख पर, नाना प्रकार के, अप्रकृत हास की अपरूप भंगियां झलकने लगीं। विविध प्रकार की मुद्राओं में वह सोचने लगा—

"तो क्या राधा सचमुच कल्पना थी, एक स्वप्नमाला? क्या स्वतः उसे भी यह नहीं ज्ञात था कि वह कहां जा रही है? क्या उस दिन का वह समर्पण भी एक वाक्छल था? पति के साथ छल करके जब उसकी संतुष्टि नहीं हुई, तब क्या मेरे साथ भी उसने उसी प्रकार का प्रयोग किया? तो क्या स्वामी को एक बार खोकर फिर उसने उसे पा लिया था? और फिर, क्या इसीलिए वह अन्तर्ध्यान हो गई?"

सोचते-सोचते वह थक गया। दिन-भर के उपवास और असीम मान-मंथन से जब वह अत्यन्त श्रांत-ध्वस्त हो गया, तो एक बार उसके मन में आया—कहीं कुछ नहीं है, मैं स्वतः भी कुछ नहीं हूँ। सब धोखा है—इंद्रजाल।

वर्ष-के-वर्ष बीत गये हैं; किन्तु आजतक दिलीप के लिये राधा एक इन्द्रजाल ही बनी है। विस्मयाकुल हो-होकर सदा वह यही सोचता है—तो, एक-बार खोकर भी क्या फिर

उसने स्वामी को पा लिया था ? सदा के लिए खो जाने पर भी क्या कोई वस्तु पुनः प्राप्त हो सकती है ? खोना और पाना क्या एक ही स्थिति के दो रूप हैं ?

मैना

मैना मनोहर की नवभार्या है। वर्ष भर पूर्व, विवाह के अवसर पर, केवल पन्द्रह दिनों के लिए उसके जीवन में प्रवेश करने आयी थी। उसके बाद अब आयी है। वासन्तिक वट-पल्लव-सा मर्मर उसका गतिसंगीत है, उनके भोले लाल और हरित पीत वर्णों की प्रशान्त झलकों-सा उसका वेश-विन्यास।

मनोहर के दो बहनें हैं--भावना बड़ी, साधना छोटी। भावना की गोद में एक शिशु है। साधना कुमारी है। देह-यष्टि और यौवन-सम्भार की विलस-झलकों में साधना जैसी मूक है, मैना वैसी ही चटुल। नहीं तो दोनों एक हैं।

श्यामसुन्दर मनोहर का नया मित्र है। ननिहाल के मान्यतम नाते से उसकी जातीय पद-मर्यादा मनोहर से उच्च है। वह प्रयाग-विश्वविद्यालय का विद्यार्थी है और आज मनोहर के घर पहली ही बार नहीं आया है। अनेक बार पहले भी आ चुका है। तिमंजिले मकान की खुली छत पर एक पलँग बिछा है। श्यामू उस पर बैठा है। ठंडे सीमेंटेड फ़र्श पर

शीतलपाटी बिछी है। उस पर मैना और साधना बैठी श्यामू से कुछ बातचीत कर रही हैं।

मनोहर किसी कार्य से नीचे, दूसरे खण्ड में, आकर इधर-उधर से घूमता हुआ साधना के पास चला गया। बोला—मेरा सिगरेट-केस और दियासलाई तो श्यामू को झट से भेज दो। एक मुझे जरूरी काम से अभी एक जगह जाना है। और मेरी छड़ी कहाँ है ? मिल नहीं रही है।

साधना क्या जानती नहीं है कि श्यामू आया है ? वही श्यामू, जो दूर छूट आये बचपन में कभी-कभी उसके साथ लुका-छिपी भी खेला है। किन्तु आज का यह श्यामू उसके लिए क्या है, साधना अकसर सोचती रह जाती है। इस समय भी मनोहर-भैया के उपर्युक्त कथन के साथ साधना कुछ अस्थिर हो गई।

—श्यामू के पास वह जायगी तो उससे बोलेगी किस तरह ? उसकी रसना जो कहीं तालू से चिपक गयी, तो !

—बोलने, बातचीत करने, की आवश्यकता ही क्या है ? वह तो सिगरेट दियासलाई देने जा रही है !

—किन्तु इसके लिए क्या भाभी नहीं जा सकती थीं ? और जीजी ? और खुद भैया ?

सन्ध्या हो रही थी। साधना नहा-धोकर वस्त्र बदल

चुकी थी। तो भी दूसरे कमरे में लगे क़द आदम शीशे के सामने वह जा ही पहुँची।

खुले सिर तो जाना ठीक है नहीं। साड़ी को मस्तक के ऊपरी भाग तक खिसका के लाना पड़ेगा? सोचती और साड़ी खिसकाती हुई साधना अकस्मात् आप ही आप ज़रा-सी हंस दी।

—अरे, साधना को भी यह पगलपन सूझा है! क्या वह भी बनावट की चोज है? वह क्यों आयी इस शीशे के सामने! यह जड़ शीशा साधना को यथार्थ रूप में प्रदर्शित कर भी सकता है!

आन्दोलित मनप्राण से साधना सिगरेट-केस और दिया-सलाई लेकर ऊपर उसी स्थान पर जा पहुंची, जहां पलँग पर श्यामू बैठा बातें कर रहा था।

"कितनी देर से तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं, यह जानते हुए भी...!" कहकर मैना साधना की आँखों में खेलती हुई यकायक मुसकराने लगी।

भावना उठकर चली गई।

साधना लजा गई। उसकी दृष्टि नमित हो गई। कपोलों पर लालिमा जैसे ज्वलन्त होकर रह गयी। दोनों हाथ श्यामू को नमस्कार करने के लिए मानो आप-ही-आप उठ गये।

श्यामू शरमाया नहीं। उसने हाथ जोड़कर पहले प्रति-नमस्कार किया, फिर कहा—ओः तुम हो साधना! कहो,

पढ़ना-लिखना कैसा चल रहा है! मैंने सोचा था, तुम मुझे भूल गयी होगी···वे दिन भी कितनी दूर छूट आये!—क्यों?

साधना दृष्टि को कुछ ऊँचा करके एक-बार श्यामू की ओर भोले सौहार्द से देखती हुई बोली—हाँ, दिन तो बहुत हो गये!

कथन के प्रकार में उसके अधर भी ज़रा से खुल पड़े।

श्यामू बोला—लेकिन सिगरेट तो मैं पीता नहीं। भैया जी भी अजीब आदमी हैं। उनको क्या मालूम नहीं है कि...। लेकिन जान पड़ता है—उन्हें इस बात का ख्याल नहीं रहता है।

मैना ने दोनों की ओर एक बार देखा। देखा, श्यामू अभी तक चुप ही बैठा रहा है। अब ज़रा-सा बोल उठा है। पान उसने खाया नहीं। एक इलायची मात्र तश्तरी से उठाकर मुंह में रख ली है। अरे, सिगरेट भी वह नहीं पीता है! कैसा है यह श्यामू?

फिर देखा, यह साधना खड़ी है। शीतलपाटी पर बैठ नहीं सकी। बात भी उसकी समाप्त हो चुकी है, तो भी यह खड़ी क्यों है?

श्यामू इसी क्षण बोल उठा—भैया जी आये नहीं। उन्हें आप बुला न देंगी भाभी?

उसी समय साधना चलने को हुई।

श्यामू बोला—जाओगी? अच्छा...।

मैना बोली--आते होंगे। जल्दी क्या है ?

इसी समय मनोहर आ पहुंचा।

मैना ने सिर की साड़ी को मस्तक पर और भी ज़रा खसका लिया।

मनोहर बोला—शरबत क्यों नहीं बनवाया ?

मैना ने धीरे से कह दिया—जुगुल (नौकर) आइसक्रीम लेने गया है।

मनोहर तब चलने को हुआ। श्यामू बोला—मैं भी चलता हूँ। ज़रा ठहर जाओ न ?

मनोहर ने कहा—तुम तो अभी आये हो। इतनी जल्दी जाने भी पाओगे कि जाने की सोच ही रहे हो।

किन्तु मनोहर जब चलने लगा, तो श्यामू भी उठ खड़ा हुआ।

मैना ने एक बार श्यामू को अपलक नयनों से देखा। गोरे उज्ज्वल वर्ण के सूर्यमुखी आनन की क्लीन शेव्ड अभिनव दीप्ति देख कर वह ठगी-सी उसे निहारती ही रह गयी।

श्यामू ने अगला पैर आगे बढ़ाया ही था कि उसने देखा, धोती का निम्न छोर तो, भाभी के हाथ में है। वह आगे बढ़ ही कैसे सकता है !

श्यामू भाभी के इस आग्रह से इतना अधिक मर्माहत हो

उठा कि फिर तत्काल चल देने का उसका वह साहस बात की बात में अन्तर्हित हो गया।

किन्तु तब मैना अधिक देर तक उसे उसी अवस्था में स्थिर न रख सकी। बोली—पहले यह आइसक्रीम लो और फिर बताओ कि अब आओगे कब ?

श्यामू बोला—बस, अब रविवार को आ सकूँगा।

मैना ने कहा—अच्छी बात है। लेकिन इस बीच में भी अगर चौक की ओर आना, तो चाहे पाँच मिनट के लिए ही आना, पर यहाँ आना जरूर।

मुक्त हास और सलोने प्यार के कौतुक में श्यामू बोला—अच्छा, हाँ, बस यह शर्त तै रही कि जब कभी चौक आऊँगा, तो थोड़ी देर के लिये यहाँ जरूर हो जाऊँगा।

(२)

दूसरे दिन की बात है।

श्यामू के होस्टल के पास ही लान पर उसके क्लब के लोग रोज टेनिस खेलते हैं। किन्तु आज श्यामू टेनिस खेलने नहीं गया। वह अपने कमरे में बैठा था। रह-रह कर उसके मन में आता था—चौक चला जाय तो कैसा हो ?

इसी समय उसके साथी दिनेश ने कह दिया—चलते हो श्यामू, सिनेमा देखने ? आज एक बढ़िया खेल होगा।

श्यामू—सिनेमा देखने तो नहीं जा सकूँगा, लेकिन तुम्हारे

साथ चौक तक चल सकता हूँ। मुझे अहियापुर जाना है। वहाँ मेरे एक सम्बन्धी रहते हैं।

इस तरह श्यामू रविवार आने से तीन दिन पहले—दूसरे दिन ही,—मनोहर के घर चला गया।

उस समय ठीक साढ़े छै बजा हुआ था। मनोहर घर पर नहीं था। मैना और भावना ने बड़े आदर के साथ उसे बिठाया।

आते ही श्यामू बोला—भाई साहब तो होंगे नहीं, यह मैं पहले ही से जानता था। चौक में कुछ चीजें खरीदनी थीं। सोचा, यहाँ भी जरा हो लूँ, देखूँ, भाभी साहब क्या कर रही हैं

मैना के अरुणारे अधरों पर मन्द हास खेलने लगा। वह बोली—बड़ी कृपा हुई हम लोगों पर। अहोभाग्य! आपको इतना ख्याल तो हुआ।

भावना बोली—हम लोग तो रविवार आने की प्रतीक्षा में थे।

हँसती हुई मैना कहने लगी—मैं सोचती थी, अभी तो रवि-वार आने में कई दिन हैं। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि बुधवार को ही रविवार बना दिया जाय? लेकिन मैं तो इस बात की भी कल्पना नहीं कर सकती थी कि हमारे श्याम बाबू में यह गुण विद्यमान है। इतनी उलझन की इसमें बात ही क्या है।

श्यामू हँसने लगा।

भावना बोली—भैया को बनाने चली हो। जब तक चुप बैठे हैं तभी तक चाहे जो बातें मार लो। लेकिन अभी जो यह कह दें कि यह शक्ति मुझे तुम्हीं से मिली है, तो ?

मैना बोली—मैं तो चाहती हूँ कि वे कहें। किन्तु जब उनकी कार्यावली की सूत्रधारिणी तुम बन जाओगी, तब मैं तुम्हारी भी ईर्षा की अधिकारिणी हो जाऊँगी, इसी का मुझे जरा विचार करना पड़ रहा है।

ठगी-सी भावना बोली—अब भैया तुम्हीं इससे बातें करो। मैं बोलूँगी तो यह इस तरह मुझे भी लपेटती चलेगी।

श्यामू चुप है। वह चुप ही रहना चाहता है। वह तो महज देखने-सुनने आ गया है। मनोहर को वह बहुत दिनों से जानता है। एक दिन रास्ते में अचानक मिल गया था जब वह चौक से अपने होस्टेल को लौट रहा था। भेंट होते ही मनोहर ने उलाहना दिया था। साल भर आये हुए हो रहा है, इतना भी नहीं हो सका कि किसी दिन मेरी कुटीर की ओर भी घूम पड़ते।

लेकिन श्यामू को तो ख्याल रहा नहीं था कि मनोहर किस मुहल्ले में रहता है। वह जाता भी, तो कैसे जाता ?

यही बात उसने कह दी। तब मनोहर ने घर का पूरा-पूरा पता ठिकाना बता दिया। इस तरह केवल एक शिष्टा-चार-वश उस

दिन श्यामू इस घर में आ गया था। किन्तु दो-चार बार आकर, वह, कुछ ही दिनों में, कुछ का कुछ हो गया।

मनोहर की यह नवभार्या भी कैसी अद्भुत नारी है? श्यामू का यह अब तक जीवन ही व्यर्थ कर डाला उसने। एक-एक शब्द से जैसे निरा अमृत ही निःसृत होता रहता है! हँसती क्या है। जैसे उसके मन-प्राण तक को पराभूत कर के अपनी मुट्ठी में कर लेती है। साधारण वार्तालाप में भी जो मीठी चुटकिया लेती हैं, कितना विलसित अनुराग रंजित रहता है उनमें!

मैना बोली—अच्छा, शुक्लजी महाराज, एक बात मेरी समझ में नहीं आयी।

"वह क्या?" श्यामू ने पूछा। उसकी दृष्टि अब भी मैना के नयन कटोरों से खेल रही थी।

मैना ने कहा—पान न खाने की क्या आप ने प्रतिज्ञा कर ली है?

भावना बोल उठी—बेकार की बात पूछती हो! विद्यार्थी-जीवन में लोग प्रायः पान खाना पसन्द नहीं करते।

"लेकिन मेरा बस चले, तो मैं इन्हें आज ही पान खिला कर छोड़ूँ।" मैना ने बात तो हँसते हुए ही प्रारम्भ की, किन्तु अन्तिम शब्दों के साथ उसकी वाग्धारा कुछ और उद्दीप्त हो उठी।

भावना ने कहा—बस न चलने की तो कोई बात नहीं है।

पनडब्बा ले आओ। पान लगा कर, प्रसन्न मन से, इनके मुँह में लगा दो। फिर देखो, कैसे इनकार करते हैं।

मैना सचमुच पान लगाने लगी।

ज्योंही पान लगाकर उसने श्यामू की ओर बढ़ाया, त्योंही श्यामू के होठों पर मुक्तहास खेलने लगा। झट से हाथ बढ़ा कर उसने पान ले लिये।

मैना ने ताली पीट दी!

भावना हँसने लगी। बोली—भगवान् की इच्छा होगी, तो भैया को पान खिलाने का अवसर तुम्हें रोज मिलेगा।

श्यामू दूसरे लोक की ओर जा पहुँचा। भावना की बात सुन कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकता था! किन्तु ज्यों-ज्यों वह इस बात के मर्म में प्रवेश करता, त्यों-त्यों इस घर में अब और अधिक देर तक बैठने-उठने का उसका सारा उत्साह ही शिथिल होता जा रहा था। बात-की-बात में उसके मुख पर गम्भीरता दौड़ गयीं। झट से वह उठ खड़ा हुआ। बोला—अब चलूँगा भाभी।

भावना बोली—इतनी जल्दी चले जाओगे? मैं तो खाना बनाने का इन्तजाम कर रही थी।

मैना ने कहा—यह कैसे हो सकता है? वे आयेंगे तो क्या कहेंगे! न, मैं किसी तरह नहीं जाने दूँगी।

श्यामू बोला—पढ़ने का कितना हर्ज होगा ?

मैना ने कहा—अभी से पढ़ने का हर्ज होगा ! अभी तो आये ही हो। खेल-कूद के दिन हैं।

मुद्रा पर उद्वेलित मानस की चिन्ता-धारा उचक-उचक कर बैठ जाती। कुतूहल भरे भोले स्वप्न उत्थित हो-होकर धूमिल हो जाते।

देखते-देखते श्यामू अत्यन्त गंभीर हो गया। उसके धनुषाकार नयन इतने फैल गये कि मैना और भावना उसकी ओर अपनी दृष्टि तक स्थिर न रख सकीं।

श्यामू बोला—माफी चाहता हूँ।

भावना ने कह दिया—तो रविवार को मैं प्रतीक्षा करूँगी।

मैना बोली—खैर। उस दिन तो आओगे ही।

किन्तु श्यामू विमर्श में पड़ गया। उत्तर के स्थान पर चलते हुए उसने हाथ जोड़ कर दोनों का अभिवादन किया।

श्यामू चला गया, तो मैना बोली—तुमने जल्दी कर दी जीजी। उस बात को सुन कर श्यामू का हँसना काफूर हो गया था। अब मुझे उनके रविवार के आने में संदेह हो रहा है। भावना सोचती रह गयी। मैना का कहना उसे भी ठीक जान पड़ रहा था।

श्यामू रविवार को आया जरूर। खाना भी उसने मनोहर के साथ बैठ कर खाया। किन्तु उस दिन वह खुल कर किसी

से कोई बात नहीं कह सका। मनोहर के आगे मैना साड़ी से सिर ढके रही। बातें भी वह बहुत कम कर सकी। केवल दो-एक बार श्यामू उसके नयनों को अपने मूक आह्वान में भर सका।

मनोहर जितनी देर उसके साथ रहा, अपनी ही गाता रहा। आदेशों के मारे उसने घर भर को परेशान कर डाला। श्यामू तो उसे देखता रह गया। उसकी चिन्ता-धारा के बीच वह एक विघ्न था—एक विरोध। कभी-कभी वह यही सोचता रह जाता—क्या सचमुच मनुष्य का जीवन इतना आशामय है?

उस दिन श्यामू जब लौटा, तो और भी अधिक गम्भीर था। वह किसी से बोलना नहीं चाहता था। जीवन उसे एक शून्य प्रतीत होता था। वह उसे नष्ट कर डालना चाहता था।

दिन-पर दिन वह अतिशय उद्विग्न रहने लगा। भूख-प्यास तक उसकी सो गयी। माँ को उसने महीनों से पत्र नहीं लिखा। छुट्टियों में वह घर नहीं गया। मनोहर के घर भी बहुत दिनों से वह नहीं जा रहा था।

एक दिन मनोहर जो उससे होस्टल में मिलने आया, तो उसका चेहरा देख कर काँप उठा। बोला—ऐं! तुमको हो क्या गया! चलो तो अभी, डाक्टर के पास।

ताँगे पर बिठला कर वह उसे डाक्टर के पास ले गया।

डाक्टर ने श्यामू की सूरत देख कर ही आशङ्का का भाव प्रकट किया। कई प्रकार से उसने उसकी परीक्षा की। स्टेथसकोप से फेफड़ों का स्वर सुना। फिर कफ देखा, रक्त की भी समीक्षा की। दो घंटे उसने व्यतीत किये। प्रत्येक प्रकार से उसने अपने प्रथम निश्चय को धूमिल देखने की कामना की। किन्तु अन्ततोगत्वा उसे मनोहर को एकान्त में ले कर यह बतलाना ही पड़ा कि इनको क्षय हो गया है।

हिल-स्टेशन के एक हास्पिटल में श्यामू को लेकर उसकी माँ आयी है। उसका बड़ा भाई भी साथ में है। पिता के पास तीसरे दिन तार से स्वास्थ्य का संवाद जाता रहता है। श्यामू के पिता एक स्टेट में सेशनजज हैं। दो मास के भीतर तीन बार आ चुके हैं। मनोहर बैंक की सरविस में है। उसे इतनी छुट्टी कहाँ है कि वह श्यामू के साथ रह सकता। तो भी वह उसकी ओर से अत्यधिक सचेष्ट है। प्रति सप्ताह वह उसका कुशल-समाचार पूछता रहता है।

श्यामू जिस कमरे में है, वह हलके नीले वर्ण से पुता हुआ है। खिड़कियों और दरवाजों पर नीले परदे पड़े रहते हैं। ताजे फूलों के गुलदस्ते उसके सिराहने से लगी टेबिल पर दोनों वक्त आकर बदलते रहते हैं। कमरे के बल्ब की रोशनी बहुत हलकी रहती है। अँगरेजी तथा हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ जब आती हैं, तब उनका रैपर वह अपने हाथ से चीरता है।

मनोहर के पत्रों को वह एकबार भाई से पढ़ा कर सुनता है। फिर उसे माँग कर आँखें गड़ा कर उसके शब्द-शब्द को देखता है।

माँ ने एक दिन बड़े बेटे से कुछ सन्देहजनक भाषा में कहा—श्याम मनोहर के पत्रों को जो इस तरह ग़ौर से देखता है, यह क्या बात है रे रामू ?

रामू ने कहा—मैंने भी इस बात को लक्ष किया है। अच्छा, आज कहूँगा, मनोहर को क्या यहीं बुला लूँ श्यामू ?

रामू ने जब उससे कहा, तो श्यामू ने विस्मयाकुल होकर उत्तर दिया—मनोहर को ? नहीं, उसको बुलाकर क्या करोगे ?

"तब फिर, तेरी इच्छा क्या है ? उसके पत्रों में अक्सर क्या खोजा करता है ?" उसकी माँ ने पूछा।

देखते-देखते श्यामू का चेहरा और भी अधिक अम्लान हो उठा। बोला—यों ही देख लेता था। अब नहीं देखूँगा।

किन्तु एक मिनट के भीतर ही माँ ने रामू के कान में कुछ कह दिया। उसी क्षण रामू ने श्यामू की आँखों को ध्यान से देखा, तो उसने भी कहा—तुम ठीक कहती हो अम्मा। यही बात है।

तीसरे दिन।

माँ ने श्यामू से, धीरे से, कहा—मनोहर सपरिवार आया है।

श्यामू मां की ओर देखकर रह गया। उसके मुख पर एक

नवल उल्लास फूट पड़ा। तो भी कुछ देर तक वह चुप ही रहा। फिर बोला—इतनी जल्दी कैसे आगये ? पहले से लिखा भी नहीं।

मां ने कह दिया—चिट्ठियों से जब उनके जी को संतोष न हुआ, तो फिर चले ही आये। चलो अच्छा हुआ। तुझे कुछ आराम तो मिलेगा।

एकान्त में लेजाकर रामू ने मां से कहा—डाक्टर ने कहा है, धीरे-धीरे दो-दो मिनट के लिए एक-एक को मिलाना होगा। सबको एक साथ घेरे हुए देखकर घबरा जाने का भय है। उस वक्त मैं उसके पास मौजूद रहूंगा। मुझे देखना पड़ता है कि किसको देखकर मरीज के दिल को ज्यादा तसल्ली हासिल हुई है।

मनोहर सामने आया, तो श्यामू बोला—आगये भाई साहब ! अहोभाग्य भाभी को भी ले आये हो ?

डाक्टर बोल उठा—भाभी को बोलो आ जाय अभी। फिर मनोहर से विनम्रता के साथ कह उठा—यू प्लीज़ बी आउट एण्ड सैन्ड हर काइंटली।...थैंक्स।

मां को लेकर रामू भी बाहर चला आया।

मैना के प्रवेश करते ही डाक्टर भी बाहर हो गया।

उसी क्षण कमरे के बाहर श्यामू के रोने का स्वर स्पष्ट सुन पड़ा। रामू, उसकी मां तथा मनोहर—सब के सब चिन्तित हो उठे।

मनोहर डाक्टर के पास आकर कुछ कहने ही वाला था कि डाक्टर बोला—खूब अच्छी तरह उसको रो लेने दो। सब लोग बाहर चले आओ। १५ मिनट तक वेट करना होगा।

(४)

"तुम आ गयीं भाभी! तुमको आखिर ···।"

मैना रूमाल से उसके आंसू पोंछ रही है। इधर आँसू उसकी आँखों में भी तैर रहे हैं लेकिन उनको वह कठोर संयम के साथ आँखों में ही निरुद्ध करके रक्खे हुए है। वह एक सती-साध्वी नारी है। स्वामी ही उसके लिये जगत् है—जीवन। लेकिन इससे क्या? उसके साथ इस श्यामू का भी तो सम्बंध है, जो उत्सर्ग में इतना महान् है।

—किन्तु असल में यह सब भी कोई चीज नहीं है री मैना। तेरे लिये यह श्यामू, यह ताजे खिलेहुए फूल-सा श्यामू, जीवन तक का त्याग करने चला। लड़ा नहीं वह किसी से, कभी एक बात तक जबान पर नहीं लाया। किसी प्रकार उसने अपना प्रेम प्रकट नहीं होने दिया। वह सर्वथा मूक ही बना रहा। और किसी से भला क्या कहता, जब वह मुझ से भी दूर-दूरतर होता चला गया। कैसा अनूठा उसका प्रणय है! कितना दृढ़!!

—तो ये बन्धन, ये सीमाएँ, ये मर्यादाएँ क्या चीज हैं जी? मानवात्मा क्यों इनसे इतनी विद्ध होकर रहे? यह मिलना-जुलना हँसकर दो बातें करना, आवेगों को पालना। नहीं,

बढ़ाना नहीं, जलाना और झुलसाना भी नहीं, उनको दुलराकर-फुसलाकर चलना कहना कि 'लल्ला' 'मनुआं' ऐसे नहीं, ऐसे चलना होता है।—क्योंकि यही शाश्वत है, अक्षय है, अनन्त काल तक चल सकता है।' यह सब भी क्या पाप हो सकता है ? लज्जा जैसी क्षुद्र चीज़ का उस पर संरक्षण कैसा ?

तब वह रुक न सकी। और भी निकट पहुँचकर श्यामू के आँसू पोंछती हुई बोली—

"अरे तुम रोते हो ! मैं आ तो गई तुमको हँसाने के लिए। यों भी तुम मेरे देवर लगते हो। तुमको संकोच किस बात का हो सकता था ? पागल कहीं के। कोई इस तरह लड़ता है ! तुम ईश्वर से लड़ने चले थे ? ओः कोई जीवन को इस तरह मसल डालता है ! रोना बन्द करो इधर मेरी ओर देखो।

मैना ने भी अपने आंसू पोंछ लिये। पन्द्रह मिनट बाद जब डाक्टर ने श्यामू को देखा, तो प्रथम दर्शन में ही उसने कह दिया—बस अब ठीक है।

(५)

मनोहर तो दस दिन बाद लौट आया। उसे अपनी नौकरी पर जाना था। भावना भी उसके साथ आयी। किन्तु मैना और साधना वहीं रहीं।

मैना रात-दिन श्यामू के पास बैठी रहती। अब श्यामू की मां को भी विश्वास हो गया कि किसी ने अगर उसके जीवन

को बचाया है,-तो केवल इस बहू ने।"' साधना के लिये कोई काम न था। सायंकाल वायोलिन पर वह केवल एक गाना सुना जाती थी। गुलदस्ता सजाने का भी उसे शौक था। श्यामू ने कुछ कविताएँ लिख छोड़ी थीं। साधना कभी-कभी उनको भी गाकर सुनाती।

श्यामू अब हंस के बातें करने लगा था। उसका अट्टहास कभी-कभी कमरे के बाहर भी चला जाता था।

एक दिन डाक्टर ने आकर परीक्षा की। टेम्परेचर का चार्ट देखा। थूक और कफ देखा। खून की परीक्षा ली। उसकी गति पर भी विचार किया। तब दूध की मात्रा बढ़ादी गई। टहलने की भी उसने व्यवस्था दी और अन्त में उसने कह दिया—अब आप पूर्ण स्वस्थ हैं।

धीरे-धीरे मैना को आये हुए दो महीने बीत गये थे। श्यामू को स्वस्थ देखने के लिए जी तोड़कर परिश्रम उसने किया था। पूरी नींद वह कभी सो नहीं सकी थी। तो भी दिनभर वह हँसती ही रहती थी। दिन चल रहे थे। और उसका स्वास्थ्य गिर रहा था। श्यामू को लेकर जब-जब उसकी मां, भाई, लौटने को हुए, तो मनोहर भी आकर मैना और साधना को ले आया।

जाड़े के दिन आ गये थे। मैना की दवा चल रही थी। बीच-बीच में वह इतनी प्रसन्न देख पड़ती थी कि मनोहर को उसके नीरोग रहने में कोई आशंका तक न रह जाती थी।

फिर माघ आया। वसन्तागमन से मैना के स्वास्थ्य में फिर नवीन परिवर्तन हुआ। साधना के विवाह की तैयारियां होने लगीं। फागुन के शुक्ल पक्ष की नवमी को साधना श्यामू की हो गई। मैना असल में इसी दिन की प्रतीक्षा में थी। अब उसका उद्देश्य पूरा हो गया था।

मनोहर बड़े ध्यान से मैना की भाव-धाराओं का अध्ययन कर रहा था। वह जानता था—वह मैना ही थी, जो साधना के लिए श्यामू की रक्षा कर सकी। किन्तु वह यह भी समझ रहा था कि वह आँधियों से खेल रही है। पता नहीं, किस समय विवश हो जाय और जवाब दे बैठे।

मैना को हिल-स्टेशन के वे दिन कभी-कभी याद आ जाते थे, जब रात के दो बजे होते, चारों ओर सन्नाटा छाया रहता, श्यामू यकायक चौंककर उठ बैठता और पुकारता—भाभी ?

और इन दो शब्दों के उच्चारण के साथ ही उसे जवाब मिलता—भैया !

आश्चर्य से श्यामू पूछता—मैंने एक स्वप्न देखा था भाभी। तभी मैंने तुम्हारा नाम पुकारा। किन्तु तुम अभी तक सोयी नहीं !

मैना टाल जाती। कहती—नींद नहीं आई। लेकिन तुम इसकी चिन्ता न करना। मैं अभी सोयी जाती हूँ।

और दस मिनट बाद परीक्षा के लिए भी जो श्यामू फिर

पुकार उठता—भाभी ?—तो मैना जागती हुई भी जवाब न देती। जान-बूझ कर वह झूठमूठ यह प्रकट करना चाहती थी कि वह अब सो गयी है। लेकिन क्या उसे तब नींद आती थी ?

एक दिन की बात है। दिन नहीं; उस दिन भी रात ही थी। शायद तीन बजे होंगे। श्यामू बोला—देखो तो भाभी, मैंने तुमको कितना कष्ट दिया ! कहाँ भाई साहब—कहाँ तुम ! और कहाँ ये पावस के दिन !

मैना बोली—और यह क्यों नहीं सोचते कि ये पावस की सुनहली रातें और हम और तुम ! बस, रहे तुम भी पागल ही। क्या सोचना चाहिये था—क्या सोचने लगे।

श्यामू बोला—भाभी, मैं तुमको अभी तक समझ नहीं पाया। क्या सचमुच नारी इतना त्याग कर सकती है ? मैं तो केवल प्राण दे सकता हूँ, किन्तु तुम तो अपनी आत्मा ही नहीं, अपने विश्वासों तक का उत्सर्ग कर देती रही हो ! सच बताओ, तुम क्या हो, भाभी !

"मैं तुम्हारी भाभी हूँ और क्या हूँ ! तुम इन सब बातों को अपने भीतर मंथन करके जो इतने चिन्तनशील हो जाते हो, यह ठीक नहीं है। मैं तो कुछ नहीं सोचती; तुम क्यों सोचते हो ?"

और आज, वही श्यामू, जब से साधना को ब्याह कर

ले गया है, मैना के सम्बन्ध में मौन है। कुशल-मंगल का समा-चार तक उसने उसके पास नहीं भेजा !

(६)

मैना को ज्वर रहने लगा है। डाक्टर ने कहा—हिल-स्टेशन पर ले जाना होगा।

फिर वही हिल-स्टेशन और वही डाक्टर। मनोहर और मैना को देखते ही पहचान गया। बोला—मैंने तुम लोगों को होशियार कर दिया था। तुमने नहीं माना, उसी का यह नतीजा है। टी० बी० के मरीज़ के रूम में सोना बहुत डेंजरस होता है। फिर सीरियस नेचर के आदमी को तो ऐसे मरीज़ के पास रात को रहना ही न चाहिये। लेकिन यह लेडी उसके लिए रात-रात भर जगती रह जाती थी। खैर ! अपना काम इलाज करना है। लेकिन, तुमको बहुत सतर्क रहना चाहिये।

मनोहर ने डाक्टर का अन्तिम वाक्य सुनकर ज़रा-सा हँस दिया।

चिकित्सा हो रही थी। साधना के पत्र भी आ रहे थे। मैना उनके उत्तर में लिखवा देती—अब तो तबियत अच्छी है। पन्द्रह दिन में टहलने लगूँगी।'''कभी लिखवा देती—यों तो तबियत अच्छी है। ज़रा सा सिर दर्द कभी-कभी हो जाता है। पर डाक्टर का कहना है—कोई चिन्ता की बात नहीं है। अपना समाचार देती रहो।

किन्तु यहाँ पर भी तीन महीने व्यतीत होने आ रहे थे और मैना का स्वास्थ्य दिन-पर-दिन गिर रहा था।

मनोहर सब कुछ जानता था। उसे यह विश्वास था कि मैना कुछ ही दिनों की मेहमान है। इसीलिये वह उसके संकेतों के अनुसार चल रहा था।

मनोहर देखने में पूरा सांसारिक आदमी है। किन्तु भीतर से वह पक्का विचारक है। जीवन और जगत् को वह केवल प्रगति में देखता है। मैना उसे बराबर मना करती आ रही है कि साधना को कभी यह न लिखा जाय कि वास्तव में वह इस हद तक बीमार है।

किन्तु उसके साथ में इस समय भावना भी तो थी। पहले तो इस विषय में वह उससे सहमत रही—यह सोचकर कि क्यों उन लोगों को व्यर्थ में कष्ट दिया जाय। किन्तु जब उसे भी मैना के जीवन के विषय में सन्देह होने लगा तो उसने साधना से इस बात को छिपाना उचित न समझकर उसकी स्थिति का कच्चा चिठ्ठा उसे लिख भेजा। परिणाम यह हुआ कि साधना को लेकर श्यामू आ पहुँचा।

मैना इधर वर्ष भर से बराबर अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध गतिशील होती आ रही है। श्यामू को वह चाह नहीं सकती थी, तो भी उसे उसके साथ प्रेम का अभिनय करना पड़ा। बड़ी दूर तक वह केवल अभिनय ही करती चली गई। यह सोचने

की आवश्यकता ही उसने कभी अनुभव नहीं की कि अन्तःकरण के विरुद्ध चलते रहने का क्या दुष्परिणाम हो सकता है। फल यह हुआ कि वह अपना सभी कुछ खो बैठी। नारी के पास केवल एक हृदय ही तो होता है। उसको भी—संसार की देख में—उसे देना ही पड़ा। प्रारम्भ में वह अपने भीतर इतनी महत् शक्ति का अनुभव कर रही थी कि इस प्रकार का अभिनय उसे एकदम से खिलवाड़ जान पड़ा था। किन्तु वह तो अभिनय के साथ उत्तरोत्तर अधिकाधिक समवेदनशील होती चली गयी। अन्त में जिस सम्बन्धों को वह मनोविनोद का एक कौतुक समझती थी, उन्हीं के प्रति वह आशा रखने लगी।

इस समय मैना ऐसी स्थिति में थी कि उसे नींद नहीं आती थी; तो भी वह कहती यही रहती थी कि मुझे नींद खूब आती है। साधना और श्यामू की गति-विधि जानने की उसकी बड़ी इच्छा रहती; तो भी वह निरन्तर उस ओर से उदासीनता ही व्यक्त करती रहती थी। बार-बार उसके मन में एक कसक उठती—वे लोग सिर्फ पत्रों में मेरा हाल-चाल पूछ लेते हैं!... किन्तु वह स्वामी से सदा यही कहती रही—बाप रे! सच्ची बात लिख देने से दोनों-के-दोनों कितना घबरा जायेंगे! लक्षी तो बिना आये मानेगी ही नहीं!

आज जब श्यामू उसे देखने आ पहुँचा, तब भी उसने यही कहा—बेकार आये। मैं अब बिल्कुल अच्छी हो गई हूँ।

दो-चार दिन में चलने-फिरने लगूँगी। खैर। आ गये, अच्छा ही किया। देखने को मिल गये। लेकिन यहाँ रहना नहीं होगा। समझे! कुछ हो, मर्ज तो बुरा है ही। मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण···। ना भाई! यह नहीं होने का। अगर तुम रह जाओगे तो चिन्ता के मारे मैं और भी ज्यादा बेचैन रहूँगी—ताज्जुब नहीं कि जीवन ही खो बैठूँ। आखिर तुम लोग मेरा अनिष्ट क्यों चाहोगे?

इस पर श्यामू ने तो उसकी बात मान ली; वह अगले दिन सवेरे ही चला गया। हाँ, साधना चली आने के लिए किसी प्रकार राजी नहीं हुई।

(७)

उस दिन रात को केवल साधना ही मैना के कमरे में सोई। सोई भला क्या, यह कहो कि उसके पास रही।

रात के ग्यारह बजे थे। पानी बरस चुका था, तो भी बादल घिरे हुए थे। ठंडी-ठंडी हवा खिड़कियों से आकर मैना के मन-प्राण को झकोर जाती थी।

बड़ी देर से मैना चुप थी अन्त में साधना को और भी पास बुलाकर उसने पूछा—तुम्हें ये कैसे लगे लल्ली; कुछ बतलाया नहीं तुमने?

साधना चुप रही। भाभी की इस बात का वह क्या जवाब दे? उत्तरंग लज्जा से बनाय अक्रांत हो उठी।

मैना बोली—अच्छा, मैं समझी। श्यामू बाबू ही तुम्हारे लिए सब कुछ हैं; मैं तो कोई चीज़ हूँ नहीं!

साधना भाभी की इस बात में नितान्त मर्माहत हो उठी। उसका संयम टूट गया। क्या वह जानती नहीं है कि श्यामू को उसने उसीसे पाया है। तब उससे वह कोई छिपाव-दुराव क्यों रक्खे? लाज तो पराये के साथ रखनी होती है। किन्तु जो इतना अपना है, इतना निकट, कि जिसने देने के सम्बन्ध को लेकर कभी अपने पास कुछ रखना नहीं चाहा, सभी कुछ दे डाला, उस अपने प्राणों से लिपटे हुए प्राण से भी साधना लजाये, यह तो उचित नहीं है।

वह बोली—वैसे ही हैं, जैसे तुमसे मुझे मिले हैं। कहते रहते हैं—भाभी भी क्या मानवी हैं? देवी हैं वे। उनके आत्म-त्याग की सीमा नहीं है। मनोभावों की सुकुमारता से पुष्पों के दल भी उनके आगे तुच्छ हैं

मैना चुप रही। चुप ही बनी रही।

साधना कहती गई—"अपने प्रति बड़े अविश्वासी हैं। कहते रहते हैं—मेरा कुछ ठीक नहीं है साधना। मैं अपनी आँखों पर भरोसा नहीं रखता। मुझ में इतना बल कहाँ है कि मैं अपने को सम्हालकर रख सकूँ? किन्तु भाभी को देखो। वे मेरी भी हैं—और मनोहर भाई की भी। तो भी भाभी में कहीं कलुष छू भी नहीं गया। तुम कभी ऐसी नारी की कल्पना कर

सकती हो ? क्या तुम्हें कभी यह सहन हो सकता है कि मैं तुमको न चाहकर किसी और को चाहूँ ! और क्या तुमने कभी उस स्थिति की कल्पना की है, जब एक व्यक्ति दूसरे को चाहकर भी अपने प्रति अविश्वासी नहीं बनता ! भाभी ईश्वर की एक ऐसी ही अद्‌भुत सृष्टि हैं ।

मैना चुप थी । अब भी वह चुप रहना चाहती थी । किन्तु जब साधना चुप हो गई, तो मैना बोली—कहती जाओ । चुप क्यों हो गईं ? मैं तो सब सुन रही हूँ ।

मैना की आँखों में अब आँसू न थे । कण्ठ भी उसका रुद्ध नहीं था । ऐसी स्वस्थ और सावधान इधर कई दिनों से वह नहीं देख पड़ी थी ।

साधना बोली—तुमको पत्र नहीं लिखते हैं । कहते हैं—"उनको मैं पत्र लिख नहीं सकता । पत्र-रूप में मैं उनके समक्ष पहुँच नहीं सकता । मैं उनको लिखूँ भी, तो क्या लिखूँ । क्या उनको कुछ नयी बात मुझे बतलानी है ? तब झूठ-मूठ को मैं क्यों काग़ज़ रंगने बैठूँ ! मैं उनसे कुछ छिपा नहीं सकता । ...

...'बातें करते-करते आँखें पोंछने लगते हैं । अटक जाते हैं । भाग उठते हैं । ...एक-आध बार तो मेरे आगे इतने अधीर हो उठे कि मैं डर गई, आँखें बाहर निकलती-सी जान पड़ीं । मुद्रा इतनी भयानक हो गई कि ऐसा मालूम पड़ा मानो पागल हो जायँगे । बोले—मैं-मैं तुम्हें नहीं चाहता । तुम्हें चाह नहीं

सकता। मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है, विश्वासघात किया है। तुमको तो मैंने मार डालना चाहा है···कभी-कभी अब भी यह बात मेरे मन में उठती है कि···तुम, साधना, मैं तुमको क्या बतलाऊँ? यही सोचकर रह जाता हूँ कि आखिरकार मुझे भाभी ने जो नया जन्म दिया है, उसका भी तो कुछ महत्व है। अच्छा साधना, क्या तुम मुझे क्षमा नहीं कर सकतीं? मैं बड़ा कपटी हो गया हूँ। तुमसे छल करने लगा हूँ। मैं शराब पीता हूँ। वेश्यालयों में जाकर मुजरा सुनने में भी मैं चूकता नहीं। बोलो, क्या तुम मुझसे घृणा नहीं कर सकतीं? तुम मुझसे घृणा करो। मैं तुमसे प्रेम की नहीं, घृणा की भिक्षा चाहता हूँ।"

मैना अभी तक चुप थी। अब बोली—अपने पैर इधर ज़रा रक्खो तो सही। मैं उनकी धूल अपने भाल पर लगाऊँगी। मुझे तुम्हारे आशीर्वाद की ज़रूरत है। मैंने जान-बूझकर यह स्वांग रचा था। मैं मृत्यु की कामना करने लगी थी मृत्यु मेरे लिए जीवन हो रही थी। किन्तु अब मैं सच्चा जीवन चाहती हूँ। क्योंकि मुझे मरने का अधिकार नहीं है। मैं सोचने लगी थी कि मेरे बिना भी उनका काम चल जायगा। लेकिन अब मैं सोचती हूँ—मुझे जीवित रहना पड़ेगा। अपने लिए नहीं; उनके लिए।

साधना स्तब्ध हो गई।

'लाओ, अपना चरण इधर ले आओ।" मैना ने कहा।

साधना की आँखें भर आयीं। वह बोली—मैं इस योग्य कहाँ बन सकी भाभी, कि तुम्हें आशीर्वाद दे सकती! उनका यह कहना कभी झूठ नहीं हो सकता कि तुम मानवी नहीं, देवी हो! जीवन की प्यास इस हद तक मसल डालने की शक्ति है तुममें, यह मैं आज जान सकी? वासना भी तुम्हारे स्पर्श से कैसी पावन बन गई है! जीवन और मृत्यु को तुम ने जैसे मुट्ठी में कर लिया है। तुम्हीं मुझे आशीर्वाद दो कि वे दीर्घ-जीवन पावें। फिर चाहे वे मुझे न भी चाहें। मैं नहीं चाहती किवे मेरे ही होकर रहें।

भाभी के आगे तब साधना ने अपना सिर टेक दिया। वह सिसक-सिसककर रो पड़ी।

मैना ने उसके सिर पर हाथ रक्खा, फिर उसकी पीठ पर थपथपाया, फिर उठने का संकेत किया।

साधना ने सर उठा कर जो देखा, तो निश्वासगर्भित वाणी में मैना बोली—अगर मैं ऐसा जानती, तो कल उन्हें किसी तरह जाने न देती। किसी तरह नहीं।

इतना कह कर मैना चुप हो रही।

साधना बड़ी देर तक जागती रही। अन्त में जब उसे प्रतीत हुआ कि भाभी सो रही हैं, तो उस कमरे से बाहर बराण्डे में आकर अनायास वह खुले गगन को निहारने लगी। कहीं

छोटी-छोटी बादल-परियाँ नाचती हुई आ रही थीं, कहीं तारा-गण आँखें खोलते और मूँद लेते थे। उधर हास्पिटल के फाटक पर कुत्ता जोर-जोर से भौंक रहा था। इसी समय दरबान उधर जाता देख पड़ा। साधना कुतूहलवश खड़ी रही।

दरबान जो फाटक पर पहुँचा, तो देखता क्या है कि कोई भद्र जन हैं और कह रहे हैं—फाटक खोल दो।''नशे के कारण झूम-से रहे हैं! बात आधी ही स्पष्ट कह पाते हैं। आधी लड़-खड़ाहट में आकर अपने पैर पसार देती है।

दरबान के आने में देर देख कर साधना और भी सशंकित हो उठी। एक बार उसने सोचा, वह खुद भी वहाँ जा कर क्यों न देखे कि मामला क्या है? किन्तु वह भाभी को इस दशा में अकेला छोड़ कर जा नहीं सकती थी।

मनोहर जिस कमरे में लेटा हुआ था, वह फाटक से बिल्कुल निकट पड़ता था। अतएव अकस्मात् उसकी भी आँख खुल गई। साथ ही उसने यह भी सुना कि टूटती हुई भाषा में श्यामू कह रहा है—फाटक खोल, खोल फाटक। नहीं तो मैं तुझे गोली मार दूँगा।

मनोहर तब तत्काल उठ कर फाटक पर जा पहुँचा। देखा, सचमुच और कोई नहीं, वही श्यामू है जो कभी पान नहीं खाता था, सिगरेट नहीं पीता था और मैना तथा भावना से बातें करने में भी बड़ा शरमाता था। इस समय उसका पैंट

कीचड़ से सना हुआ था और उसके कोट पर वमन के भीगे चिह्न अपनी दुर्गन्ध बिखेर रहे थे।

मनोहर को सामने देखते ही श्यामू कुछ सावधान हो गया। बोला—मैं यहाँ से जा कर भी जा नहीं सका। मैं तुमसे माफी माँगने आया हूँ। मुझे भाभी के साथ···। नहीं, नहीं। मैं कह नहीं सकता; क्योंकि मैं उन्हें चाहने लगा था। मैं जानता हूँ, यह मेरा पाप था, प्रमाद। कहीं कोई ऐसी भी जिद करता है! किन्तु मैं अपने को खो चुका था। अपने आप पर मेरा कुछ भी वश न रह गया था। मैं नहीं जानता था कि भाभी मेरी नहीं हो सकतीं। जीवन में बन्धन तो कुछ न कुछ रहते ही हैं। मनुष्य उनसे मुक्त कहाँ हो सका है? मुक्त हो सकता तो वह पूर्ण न हो जाता! किन्तु यह मानव जीवन वैसा पूर्ण कहाँ बन सका? भाई मनोहर, मैं अनुताप से जल रहा हूँ। मुझे विश्वास हो गया है कि भाभी को हमलोग खो देंगे।···क्या हाल है उनका? कुछ बतला सकते हो?

मनोहर बोला—चलो न। देख लो चल के।

"मैं कैसे जाऊँ? उनके पास जाऊँ? ना मुझे माफ कर दो। भाभी अब कहाँ हैं? क्या वे हमें मिल सकती हैं?" कहते हुए श्यामू नितान्त अस्थिर हो उठा।

मनोहर उसे जरा सहारा दे कर ले चला।

स्वामी की सारी बातें सुन कर उन्हें अपनी ओर आता देख

कर साधना अन्दर चली आई। वह जल्दी-से-जल्दी भाभी को स्वामी के आ जाने का संवाद देने के लिए आतुर हो पड़ी बिजली के शीतल मन्द प्रकाश में उसने दूर से देख कर समझा शायद सो रही हैं। किन्तु निकट पहुँचकर जब उसने उसे ध्यान से देखा, तो पता चला कि सचमुच वे सो गई हैं।

आः यह नींद कितनी प्राणान्तक है, कैसी मधुर! जीवन को लेकर मृत्यु इसी को तो यहाँ छोड़ गई है!

झर झर झर झर रे वेदना के गान!

हार-जीत

ट्रेन चली जा रही है। डब्बे हिल रहे हैं। आधी रात है और तारुण्य-गर्वित शीत का प्रकृत उल्लास। एक डब्बे में आठ-दस व्यक्ति लेटे हुए हैं। व्यक्तियों और उनके ओढ़ने-बिछाने के अनेक रूपों का वह पचमेल एक अभिनव दृश्य उपस्थित कर देता है।

उस डब्बे के उत्तरार्द्ध की दो बेञ्चों पर जो व्यक्ति लेटे हुए हैं, उनमें, बीच की सीट पर, एक युवक है और भ्रमण का रस लेने के लिए, घूमने को, निकल पड़ा है। उसका क्लीनशेव्ड मुख है, प्रकृत गेहुँएँ वर्ण का। केश ऊपर की ओर खिंचे, सँवारे हुए हैं! इस बेञ्च के अर्द्धभाग में, एक ओर वह है, दूसरी ओर एक छत्तीस-सैंतीस वर्ष का कोई दूसरा व्यक्ति। उस पूरी बेञ्च पर दोनों परस्पर प्रतिकूल दिशाओं की ओर पैर किये हुए लेटे हैं। दोनों के सिर और उनकी आधार भूत तकियाएँ परस्पर मिली-सी हैं।

दूसरी बेञ्च इसके ठीक सामने पड़ती है, खिड़की जिससे

लगी हुई है। इस पर दो स्त्रियाँ लेटी हुई हैं, परस्पर विपरीत दिशाओं की ओर उनके भी पैर होते हैं। इन स्त्रियों में एक तो नवयुवती है, दूसरी अधेड़। युवती की गुम्फित केश-राशि उत्तरोत्तर पतली होती हुई, उसके कटि-प्रदेश को भी पार कर गयी है। वह भीतर दुशाला और ऊपर मुलायम कम्बल ओढ़े हुए है। उसकी वाम नासिकापर स्वर्ण-मण्डित एक लाल नग है, भाल पर अरुण वर्ण की गहरी बूँद। कनक-वर्ण के उस जलज-विनिन्दिक आनन पर वह अरुण बूँद और बेंदी, ऐसी सजग पुलकित है कि अकस्मात् अनपेक्षित रूप से उस युवक की दृष्टि, कभी-कभी, करवट बदलते हुए, उस पर पड़ ही जाती है।

भीतर गाड़ी के दौड़ने का एकरस, अर्थहीन स्वर है, बाहर ओस-कणों से भीगती हुई रजनी का घोर सन्नाटा। युवक करवटें बदल रहा है। जितना गहन शीत है, उससे भी अधिक समर्थ उसका कम्बल। बेडिङ्ग के भीतर पड़ा हुआ मुलायम गद्दा भी, नीचे से, शीत-निवारण में यथेष्ट तत्पर है। लेटने और पद-विस्तार की मर्यादा में कहीं कोई अनभ्यस्त अभाव भी नहीं है। फिर भी युवक की आँखों में नींद नहीं है। उसका सहगामी परिचय-हीन यात्री, बीच में उठ-उठ कर, उस युवती के ऊपर पड़े हुए कम्मल को, जो कभी बेञ्च के नीचे लटक कर उसकी अनङ्ग-लता-सी अधिकारिणी के किसी-न-किसी

अङ्ग को अनावृत करने लगता है, ऊपर खिसकाकर ठीक कर देता है।

किन्तु युवक की आँखों में तो नींद है नहीं। वह समय-समय पर सिगरेट पीता हुआ कभी कलाई-घड़ी देखने लगता है और कभी एक उपन्यास के पृष्ठ उलटने लगता है। दो बज रहे हैं और उसका वह सजग सहयात्री भी अगाढ़ निद्रा में लीन होकर खर्राटे भर रहा है। ट्रेन उड़ी जा रही है और डिब्बे का झकझोर तीव्रतम स्थिति में है। युवती ने करवट बदली है। अब तक वह युवक की ओर पीठ किये थी; अब उसकी ओर उसका मुख है, वक्ष है। जब कोई सो रहा है, नहीं जानता है कि वह है कहाँ और कैसी स्थिति में, तब किसी को पता क्या रह सकता है कि उसका सिर ढका है या सर्वथा खुल ही गया है।

युवती के ऊपर पड़े हुए कम्बल का उत्तर छोर कुछ नीचे खिसक आया था और युवक की आँखों में नींद का नाम तक न था।

दुनिया तक जब स्थिर नहीं रहती, तब चलती गाड़ी का कम्बल और दुशाला चीज क्या है ?

पहले साड़ी है, फिर स्वेटर, उसके भीतर जैकेट और फिर अण्डरवियर। ग्रीवा के नीचे कुछ दूर तक—हाँ, वक्षोजाम्बुजों के उत्तर प्रान्त तक—इन चीजों को खुला रखने का फैशन

हमारी इस महामहिमान्वित हिन्दू-संस्कृति के जीवन-काल में भी प्रचार और विस्तार पा रहा है। लेकिन वह युवक यह सब सोचना व्यर्थ समझता है; क्योंकि उसकी आँखों में नींद नहीं है और ये आँखें अपना आचार-धर्म खूब समझती हैं। हाँ, तो इन सब परिधानों में लिप्त रहता हुआ युवती का जो एक रेशमी रूमाल है, जिसमें उसके अधर दलों का पराग रञ्जित है, करवट बदलने में उसका कोई एक बढ़ता हुआ कोना कहीं दब गया था। तभी तो वह एकाएक ऐसा उच्छृङ्खल हो गया है। लोग कहते हैं—मानव-हृदय बड़ा असंयमी और उद्धत होता है। किन्तु वे नहीं देखते कि मनुष्य का हृदय ही नहीं, उसके सम्पर्क में रहने वाले अनेक अचेतन पदार्थ भी कभी-कभी कैसे निर्बन्ध हो उठते हैं!

ट्रेन है कि भूचाल? धक्के-पर-धक्के ऐसे लगे कि युवती के अत्यधिक हिलने-डुलने के कारण वह रूमाल सरकता सरकता, शयनगर्भित शरीरगत आन्दोलनों को पार करता-करता, बेञ्च के नीचे आ पड़ा।

युवक सोचता है—"मैं उसे क्यों उठाऊँ? क्या जरूरत है कि मैं उसको उठाकर बेञ्च के ऊपर रखूँ?—वह दूसरी स्त्री उसकी नौकरानी है कि नींद की नानी। जब से लेटी है, टस से मस नहीं हुई। जगती है, उठती है, उठी। अरे!—बैठ गयी। लैट्रिन को जा रही है। गयी। अधेड़ है, तो क्या हुआ?

खासी मोटी-ताजी है, थोपी-थापी गोबर के गुम्बद और उसके कंगूरे-सी।....बाबू जी सोते क्या हैं, लकड़ी पर खराद के स्वर की नक्काशी करते हैं!...वह आयी, फिर लेट रही। पेट क्या है, दलदल की पैरडी है! "लो, वह फिर सो गयी।"

(२)

ट्रेन खड़ी थी और बाबूजी उठकर, आँखें मल रहे थे। फिर युवक को जगता हुआ देख कर बोले—अलाहाबाद है क्या?

"जी हाँ, इलाहाबाद।" कहकर वह उठकर बैठ गया।

"आप कहाँ जायँगे?"

"अभी तो दिल्ली जा रहा हूँ!"

"अच्छा! तो आप दिल्ली जा रहे हैं!....क्या वहीं आपका दौलतखाना है?"

"दौलतखाना तो जनाब अब मुग़ल-सम्राट् के अविशिष्ट उत्तराधिकारियों तक का नहीं रहा; मेरा क्या होगा! लेकिन आपका मतलब निवास-स्थान से हो, तो मैं रहनेवाला कानपुर ज़िले का; किन्तु रहता अब बनारस में हूँ। यों ही घूमने-घामने के लिए दिल्ली जा रहा हूँ।"

पहले उसकी मुद्रा कुछ गम्भीर हो गयी थी; किन्तु फिर क्रमशः प्रकृत प्रफुल्लित होती गयी। मौन का अवलम्ब न

लेकर उसने कह दिया--माफ़ कीजियेगा, आप मुझे विद्यार्थी जान पड़ते हैं--ख़ास तौर से यूनिवर्सिटी के।

अमन्द परिहास के झकोर में युवक पहले मुसकराने लगा; फिर बोला--और आप ज्योतिषी! फलतः दोनों खिलखिला कर हँस पड़े।

युवती जग पड़ी थी। साढ़े पाँच बज भी तो गया था। पहले कानों में भनक पड़ी, वे हँस रहे हैं किसी के साथ; ख़ूब क़हक़हेबाजी चल रही है। फिर आँखें खोलते हुए देखा भी कि उन्हीं के ठीक सामने जो व्यक्ति है, उसका व्यक्तित्व कैसा आकर्षक और अभिराम है! मनमें कुछ आया और गया। इस मन की विचित्र गति ठहरी। किस स्थिति में, कब वह क्या ग्रहण करेगा, कहाँ जा पहुँचेगा, किसको न देखकर देखेगा और किसको देखते हुए न देखेगा, किसको अपने में पायेगा और किसको पाकर भी कुत्सा में, विवशता में, बन्धन में, प्रतिकूल भावना में, डुबो-डुबोकर उत्क्षेप की ओर ले जायगा, इसका कुछ ठीक नहीं है। क्योंकि उसका संसार है और संसार अभाव को लेकर स्थिर है। वह अपने-आपमें कहीं भी पूर्ण नहीं है; उसमें पीछे से, कहीं-न-कहीं, किन्तु का कोई बूँद अवश्य पड़ा हुआ है। वह पाषाण नहीं है। लौह-स्तम्भ भी नहीं है। वह तो मानस है। तृण भी पड़ेगा उसमें, तो उसे उत्तरङ्ग कर डालेगा।

कुछ क्षणों तक युवती ने, जो कुछ उसे भाया, सोचा; कभी इधर दृष्टि डालकर कभी उधर। कभी युवक के यात्रागत वातावरण और वेश-विन्यास पर, कभी उसकी मुद्रा की अभिनव ज्योति पर। कभी अपने पति के केशों की रजत झलक पर, कभी उसको लेकर अपने अपरूप अदृष्ट पर। यहाँ तक कि उनकी आँखों के निचले प्रान्त में जो कालिमा छाकर रह गई है, मुख पर जो झुर्रियाँ झलकती हैं, उनपर भी उनकी दृष्टि गई।

युवक विमूढ़ था।—"दादा ने बुलाया था। लिखा था—कई ऐसे आवश्यक काम हैं, जो तुम्हारे बिना अटके हुए हैं। अब उनको सँवारने का समय आगया है। इस लम्बी छुट्टी में तुम सीधे घर ही आना मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में रहूँगा। उनका कौनसा ऐसा आवश्यक काम है, जो उसके बिना अधूरा पड़ा है, कौन जाने। तो भी उसकी कल्पना हो सकती है। इसीलिये उसने पत्रोत्तर में और तो सभी बातों का उत्तर दिया, एक इसी बात को वह साफ़ पी गया। ना, वह इस झंझट में पड़ना नहीं चाहता। वह वैसा मनुष्य बनना नहीं चाहता। मनुष्य के साथ कितने पाखण्ड लगे हुए हैं? यह कर, वह कर; इसको मार, उसको उजाड़! ···वह घृणित है; क्योंकि उसके संसार में मिश्रण है अनेक प्रकार के रसों का—आत्माओं का। हृदय नहीं है उसमें, समस्त कर्दम ही तो है उसमें।···वह धूर्त है, असीम महत्वाकांक्षी उसकी वृत्तियाँ अनुदार हैं, उसको मिट्टी में मिलाये बिना गति

नहीं है।'''उसने कहा था—मुझे यहाँ अच्छा नहीं लगता, मेरी तबियत भी यहाँ ठीक नहीं रहती। मैं अब चली जाऊँगी। वह चली गयी। फिर? ऊँह, फिर के लिए वह क्या करे? वह जीवन रखता है और जीवन में प्यास है, भूख तो है ही। वह एक रास्ते पर जा पड़ा, तो वह पतित हो गया। लो, वह त्याज्य है—कुत्सित। उसका स्पर्श तक वर्जित है, कुटुम्ब के लिये—कुटुम्ब के गुन्थन में आये हुए समाज के लिए।'''उसे यह चाहिये उसे वह चाहिये। उसे नुमायश देखनी है। वह ताँगे पर नहीं जायगी। जाने के लिए उसे अच्छी-सी कार चाहिए। मांगे नहीं-मिलती, तो टैक्सी लाओ! कार, टैक्सी और नुमायश की खरीद! और सबकी तह से उठती और ऊपर तक भीम विस्फूर्जन करती आती हुई जीवनगत कटुता— उसका प्रलयंकारी संघर्षण!! अभावों की गोद में पड़ी हुई मानवात्मा का सारा उल्लास, उसका अखिल उत्कर्ष कहाँ जाकर टिके? न, अशोक को ऐसा संसार बनाना स्वीकार नहीं है। यद्यपि रेल की इसी लाइन पर उसके गाँव से लगा झींझक स्टेशन पड़ता है, तो भी वह वहाँ नहीं उतरेगा। उसे तो दिल्ली जाना है, दिल्ली, नवेली दिल्ली दीवानी दिल्ली।"

कभी उठ बैठा, कभी पुस्तक उठा ली, कभी टाइमटेबिल देखा, कभी यह करवट कभी वह। कभी जरा-सी झपकी भी सिर में दर्द, शरीर में थकान, आँखों में किरकिरी और मन में बेचैनी।

उधर ट्रेन की गति मन्द होने लगी। और उसके पति ने कह दिया लो फ़तेहपुर आ गया कुछ खाओगी?

"चाय पिऊँगी।

दूसरी स्त्री उठ बैठी। दो तश्तरियों में उसने पिश्ता, अखरोट, किशमिश और काजू थोड़े-थोड़े रख दिये। इसी समय गाड़ी खड़ी हो गयी। बाबू जी ने दो कप चाय अपने और उसके लिए आगत व्वाय से लेना स्वीकार किया।

अशोक ने चाय, टोस्ट, केक और हाफ़ फ्राइड एग्ज स्वाभाविक रूप से ग्रहण किये। ज़रा-सी चार औन्स की शीशी निकाली, जिसमें अरुणवर्ण का कोई अमृत-सा झलक रहा था। इस तरह की कई शीशियाँ उसके ट्रङ्क में भरी हैं। कुछ खाली भी हैं। उस शीशी को निकालकर, एक क्षण तक उसकी छवि का रस लिया, फिर सलोने सौहार्द से, एकबार में उसे खाली कर दिया। आँखों की अशान्ति निमेष-मात्र में विलुप्त हो गई। शरीर-भर में जैसे नवस्फूर्ति का स्फुरण हो उठा। फिर चार बीड़े पान लिये। दो खाये, दो रख लिये। फिर सिगरेट सुलगाकर वह धूम्रपान करने लगा।

(३)

उस सहयात्री दम्पति ने अनेक बार अशोक की ओर देखा। युवती ने उसके ब्रेकफास्ट के प्रकार को लेकर उसकी इस निर्मुक्त रूप-रेखा पर दृष्टि-क्षेप किया। उस समय उसकी विचार-धारा में

एक प्रकार का विकल्प था। वह सोचती थी कि क्या विश्व की अनुभूति के सीमाहीन विस्तार में यथार्थ रूप से समाज और संस्कृत के बन्धनों की कोई स्थिति है? ज्ञान का भूखा मनुष्य यह क्यों मान ले कि यह त्याज्य है और यह ग्राह्य? क्या इसीलिए कि अमुक का ऐसा मत है? किन्तु वह, जो अमुक में समाप्त होकर रहना नहीं चाहता, जो देखता है कि उसे आगे ही बढ़ना है, इस प्रकार निर्बन्ध क्यों न हो?

और बाबूजी सोचते थे—हम अपने तपोवन में ही मग्न थे। सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग-भाव हमारा रूप था। जीव-मात्र के प्रति हममें सद्भाव था, दया थी। लोकोपकार हमारा लक्ष्य था। जीवन को हम क्षणभंगुर मानते थे। दुख-सुख हमारे लिये समान था। सारा जगत् हमारा कुटुम्ब था। चरम सन्तोष और शान्ति की प्राप्ति हमारी जीवन की एकमात्र कामना थी। हम अपने में पूर्ण थे। कहाँ चले गये हमारे वे विश्वास और आदर्श? अनुकरण, एकमात्र अनुकरण!—न वीरता का, न साहस का, न शक्ति के सृजन का; एकमात्र भोग का, संशय और अविश्वासजन्य संस्कारों का, जड़वाद का और उसकी निर्धूत आक्रान्ति का।

सिगरेट का अन्तिम कश लेकर, उसके अव्यवहार्य अंश को, अशोक ने, उठकर, खुली हुई खिड़की से, बाहर फेंक दिया। युवती चाय पीकर मेवा खा चुकी थी, किन्तु बाबू साहब मेवा

के दानों को अभी धीरे-धीरे एक-एक करके टूंग रहे थे। बोले—गुस्ताखी माफ करें, तो एक दरख्वास्त करूँ।

अशोक प्रकृत उल्लास में बोला—शौक से।

नौकरानी की ओर दृष्टि-क्षेपकर बाबूसाहब ने आदेश किया—एक तश्तरी मेवा और निकालना।

अशोक बोला—धन्यवाद। लेकिन आपने देखा ही है, जो कुछ ले चुका हूँ, वही कम न था।

'कुछ हो। अब तो इसे मंजूर ही करना पड़ेगा।" बाबू साहब ने मोहक दृढ़ता में उत्तर दिया।

"अच्छा, यह बात है! तो लाइये।" कहने के साथ तश्तरी-भर मेवे अशोक के सामने आगये और वह उनका सत्कार करने लगा।

युवती के लिए अशोक एक अपरिचित व्यक्ति है, जैसे मुक्त अम्बर में एक के लिये दूसरा विहङ्ग। किन्तु वह विहङ्ग-वृन्द भी आपस में हँस—बोल लेता है। परन्तु सभ्य जगत् का मानव उससे भी अधिक शृङ्खलित है, सर्वथा पाश-बद्ध। तो भी युवती कभी-कभी अशोक की ओर दृष्टिक्षेप कर लेती है।

और अशोक?

वह कल के लिए कुछ भी छोड़ रखने पर विश्वास नहीं करता। तत्काल तत्पर रहने का वह अभ्यासी है। वह भी युवती को देखता है। किन्तु उसका देखना और प्रकार का है।

किसी को देखता हुआ भी जब वह उसका मर्म नहीं पाता, तब उसकी प्रच्छन्न भाव-धारा के बीच पहुँचकर वह उसमें तैरने लगता है। अशोक अनुभव कर रहा है कि जो प्रकट में इतना मूक है, विकल्प में चरम अपहृत।

इसी क्षण अकस्मात् उन चारों नयनों की अभिसन्धि हो उठी।

उधर बाबू साहब अशोक की ओर मुड़कर बोले—आप देहली में ठहरेंगे किसके यहाँ ?

"कुछ ठीक नहीं है, कहाँ ठहरूँगा। कुछ फ्रेण्ड्स भी हैं, उनके यहाँ भी ठहर सकता हूँ। नहीं तो होटल बने-बनाये हैं।" अशोक ने विमनस्क भाव से उत्तर दिया।

"किस क्लास में पढ़ते हैं आप यूनिवर्सिटी में ?

"एम्० ए० प्रीवियस में।"

"कौन सब्जेक्ट ले रक्खा है आपने ?"

"फिलासफी।"

ट्रेन बिन्दकीरोड के निकट आ गयी थी। अशोक अब लेट गया। रात-भर उसने जागरण में बिता दी थी। कुछ शराब का प्रभाव भी अपना काम कर रहा था। वह लेटते ही सो गया।

अनेक स्टेशन्स आये और गये और अशोक सोता ही रहा।

देहली-शाहदरा स्टेशन पार करने के बाद बाबूसाहब अपनी नव-पत्नी के निकट आकर धीरे से बोले—विचित्र व्यक्ति है।

रात-भर जगा तो जगता ही रहा। जलपान करने बैठा, तो इतना खा गया, जितना कोई व्यक्ति दिन-भर में भी न खा सकता। अब सो रहा है, तो इतनी गहरी नींद है कि समय पर उठने में भी सन्देह है। तुम इस व्यक्ति के सम्बन्ध में कैसा विचार रखती हो लीला ?

लीला मौन रहने की अभ्यासिनी है। पचास बातें जब उसके मन को मथ डालती हैं, तब वह उनमें से दो-एक को बाहर फूटने देती है। संशयापन्न स्थिति में कुछ कहना या स्थिर कर लेना उसे स्वीकार नहीं होता। अभी तो वह उसे देख ही रही है। एक शब्द तक उससे कहने-सुनने का उसे संयोग नहीं मिला। जीवन की अनन्त धाराएँ ठहरीं। कोई क्या सोचता और करता है, किस संसार में है, किस उलझन में लीन है, उसके निजत्व में आये बिना कोई कैसे जान सकता है ?

वह बोली दुनिया ठहरी, किसको-किसको देखा जाय ?

उपेक्षा-दृप्त इस कुटिल-स्वर के साथ उसके विलोड़ित अन्तःकरण की कैसी सङ्गति बैठती है, कौन जाने ? कम-से-कम बाबू साहब तो उसकी थाह न पा सके। किन्तु उसी क्षण अँगड़ाई लेते हुए अशोक ने जो आँखें खोल दीं और उनमें किसी की उद्वेलित दृष्टि की जो झलक आ पड़ी, उससे यह स्पष्ट हो गया कि इस बहिरभिमुखी प्रसङ्ग में कितनी अन्तर्ध्वनि है और कितनी संस्कृति—कितना निसर्ग है और कितना वाक्छल।

अशोक झट से उठकर बैठ गया। फिर एक बार इधर-उधर देखकर बेडिङ्ग सम्हालने लगा।

बाबू साहब बोले—"आप सोते भी खूब हैं।" फिर वे भी अपना बिस्तर समेटने लगे। लीला एक ओर हटकर अपनी साड़ी सँभालने लगी।

ट्रेन देहली स्टेशन के प्लेटफार्म पर थी। बाबू साहब असबाब लदवाकर, आगे-आगे चले, फिर लीला, फिर नौकरानी। किन्तु इसी क्षण लीला प्लेटफ़ार्म से लौटकर फिर डब्बे में कोई वस्तु खोजने लगी। लौटते हुए किसी से उसने कुछ कहा नहीं। डब्बा खाली हो गया था। सावधानी के साथ उसने एक बार इधर-उधर, नीचे-ऊपर, देखा। किन्तु कहीं भी उसे इच्छित वस्तु न मिली। "उँह, कहीं गिर गया होगा" सोचती हुई वह फिर झट से लौट पड़ी। तेजी के साथ वह आगे बढ़ रही थी।

इसी क्षण अशोक ने सामने आकर कह दिया—ओह! आपका रूमाल यह रहा। मालूम नहीं, किस तरह मेरी जेब में आ गया! मैं क्षमा चाहता हूँ!!

बाबू साहब थोड़ा आगे बढ़ गये थे। समझते थे, लीला पीछे-पीछे आ रही है। भीड़ भी कम न थी। नौकरानी को क्या हो गया था, कौन जाने। अपने इधर-उधर वह देखती भी न थी।

और लीला उस समय अस्तासन्न हो रही थी। तरङ्गित

प्रेरणाओं के झकोर में, अपनी आस्था की आरसी पर, उसने कितनी बार उसे पाया और कितनी बार विकल्प में उत्क्षेप किया, कौन जाने ? क्षण-भर तक वह स्थिर होकर उसे देखती ही रही। फिर अपने निजत्व को खोती हुई, विलोल लिप्सा में अनुप्राणित हो, कुछ और आगे बढ़कर बोली—अब आप इसे अपने पास ही रख लें।

अशोक को बोध हुआ, यह भी उसकी पराजय ही है। वह सोचता था—वह कभी उसे क्षमा न करेगी। पूछेगी कि वह वहाँ पहुँचा कैसे ? न भी पूछेगी, तो मेरी इस अशिष्टता के लिये, अपने अहंकार की झोंक में, विस्फारित नेत्रों से ही, विपुल उपेक्षा का उद्घोष किये बिना तो वह किसी प्रकार मानेगी ही नहीं। और तब वह उसे जीत लेगा। किन्तु उसने तो जैसे प्राणान्तक स्नेह में निबद्ध होकर मेरे समस्त किये दर्प को क्षण-मात्र में चूर-चूर कर डाला ! ·

—तो तुम स्नेह-पाश्या हो लीली ! और यह अशोक तुमको कुछ और समझ बैठा था। वह संसार के लिये अभी नया भी तो है। उसे क्षमा कर दो तुम। उससे भूल हो गयी है और वह उसे सुधार लेना चाहता है। अपनी इस स्नेह-वारुणी को उसके लिए अस्पर्श्य ही रहने दो। उसे अभी कुछ पता नहीं है अदृश्य नारीत्व के भाव-राज्य का। वह अबोध है, सर्वथा अनुभव-हीन। वह चलते-फिरते गलती कर बैठता है। किन्तु फिर उन्हें

सपोर्ट नहीं कर सकता। क्योंकि वह मानता है कि ग़लतियाँ सपोर्ट पाने की चीज नहीं है। उनको तो दबा ही देना चाहिये।

कई बार उसने कुछ कहने को स्थिर किया, चलते-चलते किन्तु उसकी रसना तालू से चिपक जो जाती थी। तब वह एक-दम से अपने ही प्रति उग्र हो उठा। "पापी और कायर! अनुत्तरदायी और अविश्वासी! छि !!" अपने ही लिये मन-ही-मन सोचता हुआ, नतमुख हो एक बार में कह गया—

"किन्तु आप मुझे क्षमा नहीं कर सकतीं? मुझ से भूल हो गयी है, मैं उसका निर्वाह न कर सकूँगा।"

अशोक की उस विषण्ण मुद्रा को देखकर लीला एकाएक विमस्याकुल हो उठी! "यह पुरुष है शङ्कर? हृदय है कि शिला-खण्ड? आखिर यह है क्या?" अनेक क्षण तक यह सोचती हुई भी लीला अपनी इस संशय-धारा को पार न कर सकी। उधर अधिक वार्तालाप के लिये समय भी न था। दोनों बाहर निकलने के द्वार पर जा पहुँचे थे अशोक का कुली तो बाबू साहब के पीछे खड़ा था। अन्त में लीला बोली—"इसे पहले ही क्यों नहीं सोच लिया?"

बाबू साहब के साथ अशोक स्टेशन के बाहर तो आ गया; किन्तु अपने आपको अभी तक वह एक उलझन—एक प्राबलम —के बाहर न कर सका; क्योंकि वह रेशमी रूमाल उसके पैण्ट में पड़ा था और जेब में जा पड़ने वाले हाथ की अंगुलियाँ

उसके मृदुल स्पर्श के व्याज में, रह-रह कर उसे चरम उद्वेलित कर देती थीं ! निरन्तर विजय के स्वप्न देखता हुआ अशोक उस समय अनुभव कर रहा था कि यह तो उसकी हार पर हार है !

दो तांगों पर सामान रख जाने और कुलियों से निवृत्ति पा जाने के अनन्तर बाबू साहब बोले—होटल में ठहरने की कोई जरूरत नहीं है मिस्टर विद्यार्थी। आपको हमारा मेहमान बनाना पड़ेगा। आप फ़िलासफी के विद्यार्थी हैं और मैं उसका कीड़ा यों सहज ही आपको न छोड़ दूँगा।" फिर अपने तांगे पर जा बैठे। लीला पहले ही बैठ गई थी, साथ ही नौक-रानी भी।

"लेकिन यदि मेरी वजह से आपको कोई कष्ट होगा, तो मैं उसका निर्वाह कैसे करूँगा ? यों मुझे आपका सौहार्द्र पाने में सुख ही मिलता, किन्तु·······" अशोक कहते-कहते कुछ अटक गया।

"इस किन्तु को कभी मंजूर नहीं करता, कुछ ऐसी आदत पड़ गयी है" कहते हुए बाबू साहब ने ताँगे वाले से कहा—चलो जी पहाड़ गंज ले चलो।

(४)

अशोक नहीं चाहता था कि वह सर्वथा अपरिचित स्थान पर जाकर ठहरे। किन्तु ऐसे विमोहक स्नेहालोक पर, अस्था-

भाविक रूप से पुरुष बनकर, काला परदा डाल देना उसे स्वीकार न हो सका। स्नेह के अधिकार पर वह विश्वास भी बराबर करता आया है और इस विषय में वह कभी भ्रम में नहीं पड़ा था। यों वह संस्कृति, समाज और धर्म के प्रति विद्रोही है। जीवन के उत्कर्ष में समूहगत स्थिर सिद्धान्तों अथवा धारणाओं के अनुशासन को वह नहीं मानता। वह समझता है कि मनुष्य अपने आप समर्थ है कि वह जो चाहे, सो करे। ज्ञानार्जन और विकास के क्षेत्र में उसके लिये सभ्यता, समाज और धर्म के विधान क्षुद्र हैं, तुच्छ बन्धनों को काट काट कर आगे बढ़ निकलने का वह अभ्यासी है।

उस दिन अशोक ने विश्राम किया। रात को वह थोड़ी देर के लिए ज़रूर बाहर निकला था। किन्तु उस असमय निकलने की बात को उसने गुप्त ही रखा। किसी से कुछ भी प्रकट नहीं किया। बाहरी बैठक के कमरे में सोया। चुपचाप कहीं गया और लौट आया।

दूसरे दिन उसने दिन-भर घर पर ही बिताकर अनुभव किया कि लीला का जीवन प्रबोध बाबू को लेकर कैसी दयनीय गति से विनाश की ओर जा रहा है। और वह लीला सब बातों की ओर देखती हुई भी मौन है। अपने अस्तित्व तक के प्रति उसका मोह नहीं रह गया है। प्रकृति उल्लास और क्रीड़ा-कौतुक उसको स्पर्श करके चले जाते हैं। लीला उनके साथ

खेल नहीं पाती। मानो वह भूल रही है कि नारी और उसका कोई संसार भी है।

प्रबोध बाबू को अपने व्यवसाय से छुट्टी नहीं मिलती। सवेरे ग्यारह बजे तक घर पर रहते हैं, फिर रात को दस-ग्यारह बजने के समय लौटना होता है। बीच में सायंकाल के समय घन्टे आध घन्टे को फिर आते हैं; कभी नहीं भी आते हैं। ग्यारह बजने के पश्चात् रात है, और शयन। दिन-भर की मग्ज़मारी, सच-झूठ, उधेड़-बुन और थकान। सवेरे कुछ भजन, कुछ बाजार-हाट में शाक-सब्जी की खरीद। जलपान और भोजन। फिर काम है और काम का चक्कर।

और लीला अभी उन्नीस वर्ष की है। वह मां नहीं बन सकी। मां बनने का अवसर उसके जीवन के आंगन में कभी खेलेगा भी, वह सोचना नहीं चाहती; क्योंकि न सोचना ही अच्छा है, उचित है। सभी बातें सोचने की होती भी तो नहीं हैं। क्या-क्या सोचा जाय और क्या न सोचने को छोड़ दिया जाय? इसके निश्चय में भी तो कभी-कभी प्रमाद से भूल हो जाया करती है। तो क्या लीला इसी कारण इस विषय को भूल गई है?

सायंकाल, साढ़े पाँच बजे के लगभग, प्रबोध बाबू दुकान से लौट कर आये थे साथ बैठकर भोजन करने। दो-एक चीजें लीला ने अपने हाथ से बनायी थीं—खीर और खोये का शाक।

प्रेम के साथ सबने खाया। बीच-बीच में बातें भी होती रहीं। अशोक ने प्रबोध के अन्तस्तल में पैठकर उससे उलझने की भी चेष्टा की। कहीं कुछ छिपा पड़ा था, उसे वह खोल सकने में भी समर्थ हुआ। कहीं-कहीं जो कुछ पहले से ही अनावृत था जिस पर न उसकी दृष्टि थी, न और किसी की—लीला की भी नहीं, अशोक ने उसे भी अछूता नहीं छोड़ा। लेकिन न प्रबोध को और न लीला को—दो में से किसी को भी उसने विमनस्क नहीं होने दिया उनसे खूब हँस-हँस कर उसने बातें कीं। दोनों को उसने हँसाया और उनके अन्तर को भी गुदगुदाया।

प्रबोध ने माना, वह मेरा अपना है और अब तक जो उसे मिला नहीं था, यह उसके दिनों का फेर था, नियति की बात थी। अब वह आन मिला है, तो उसका ही है और वह उसे किसी प्रकार छोड़ेगा नहीं। जो प्राप्त हो गया है, उसे वह क्यों हाथ से जाने दे? न उसे तो वह संभालकर रखेगा—कहीं जाने न देगा।

लीला ने समझा—वे नहीं बन सके, तो यह बनेगा। वह उसे देख पायेगी, छू पायेगी, और चाहेगी, तो अपनी आत्मा के साथ सुलाकर चिपकाकर भी रखेगी। एक मात्र उसी का होगा अब तक वह सूनी थी, अकेली। क्योंकि कोई उसको देख नहीं पाया था। जब किसी ने उसे देखा तक नहीं, तो वही किसी ओर क्यों जाती? वह तो जीवन तक को छोड़ना चाहती थी;

वह निर्जीव हो रही थी। अब उसे जीवन मिला है, उसका आधार मिला है। अब वह अपने मन को और प्राण को, अन्धकार और आलोक को, विच्छेद और उत्सर्ग को, अभाव और उसकी ज्वाला को इन्हें समर्पित कर देगी और कहेगी—लो, इन सब को संभालकर रखो और देखो। मैं कुछ नहीं जानती। तुम जानो और तुम्हारा काम जाने।

भोजन से छुट्टी पाकर अशोक ने प्रस्ताव कर दिया—अब सिनेमा देखने चलेंगे।

लीला पति की ओर देखने लगी।

प्रबोध जानता है कि उसने गलती की है। दिन-रात वह भीतर-ही-भीतर उसका अनुभव कर-करके, अनुपात की ज्वाला से, जला करता है। तो? किसी छिद्र का मिल जाना, किसी अपराध को जान लेना ही तो पर्याप्त नहीं है। मर्ज है, निवारण की अपेक्षा भी तो है। जान पड़ता है, चुप रहकर उसी के सन्धान में तत्पर है।

अशोक की बात पर वह विहंस उठा। बोला—अच्छा तो है, लीला भी इस बहाने ज़रा घूम लेगी। मुझे दुकान से अवकाश नहीं मिलता, और वह इस इतने घेरे में, पिंजड़े की तरह बन्द रहते-रहते, कैसी स्वस्थ—कैसी प्रफुल्लित हो रही है, सो आपने देख ही लिया!

प्रबोध क्या जानता नहीं है कि वह क्या कह रहा है, उसके

कथन में कितना सत्य है! घूमने-फिरने, सिनेमा-सरकस दिखाने और भ्रमण करने में दोनों को लेकर जो चिरनिद्रित अभियोग जाग उठता है, उस की गति कहाँ है? फिर भी प्रबोध इन सब बातों पर धूल डाल रहा है। वह अनुभव करना चाहता है कि वह अपराधी है और उसे उस अपराध की मात्रा को और अधिक विस्तार नहीं देना है। जितनी जल्दी वह उसका प्रायश्चित कर ले, उतना ही उसके लिए शुभकर है।

अशोक बोला—तो फिर चलिये झट से, छः बज रहा है।

प्रबोध ने उत्साह के साथ कह दिया—मैं तो चल न सकूँगा अशोक। मुझे इतना अवकाश ही कहाँ है। लेकिन इससे क्या? मेरे स्थान पर लीला तो तुम्हारा साथ देने के लिए रहेगी।

अशोक बोला—ऐसा कैसे हो सकता है? आपको साथ चलना पड़ेगा, चाहे जो प्रबन्ध कीजिये।

प्रबोध ने अत्यधिक गम्भीर होकर कहा—मुझे क्षमा करो अशोक भाई। और अधिक आग्रह करना व्यर्थ है। मैं किसी तरह न जाऊँगा। लेकिन लीला को आपके साथ जाना ही होगा।

अब लीला बोली—मैं इस तरह कभी न जाऊँगी।

"हठ मत करो लीला। मेरी किसी आज्ञा का कभी तुमने कोई विरोध नहीं किया। इस उत्तर से, अपने अब तक के इतिहास को, इस एक ही क्षण के लिए, बदलने की चेष्टा मत

करो। जब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तब उसका पालन करने में तुमको कोई आपत्ति न होनी चाहिये।" प्रबोध के इस कथन और उसकी गुरु-गम्भीर वाणी को लेकर उन्मथित लीला निरुत्तर हो उठी। अशोक के साथ उसे जाना ही पड़ा।

[५]

टैक्सी पर दोनों घूम रहे हैं। सिनेमा शुरू होता है ६॥। बजे। और अभी तो सवा छः ही बजे हैं। तब शहर के इस ओर का एक छोटा चक्कर और सही। अशोक ने ड्राइवर से कहा—चलो जी, लाल किले से जामा मसजिद होकर चावड़ी बाजार, फिर चांदनी चौक में रीजेण्ट टॉकीज को।

लीला चुप है। अशोक इस बात को ध्यान से देख रहा है। वह यह भी समझता है कि यदि वह स्वतः मौन रह सके, तो लीला भी मौन ही रहेगी। अतएव उसी ने वार्तालाप का मुँह खोलते हुए कहा—मेरा यह अब तक का जीवन इसी तरह बीता है लीला। किन्तु कभी ऐसे सङ्कट में नहीं पड़ा था। नहीं जानता था कि उस दिन थोड़ी-सी गलती कर देने के कारण, आगे बढ़कर, ऐसी गम्भीर परिस्थिति में पड़ जाऊँगा।

लीला चिर-तृषित बैठी है। जीवन के सारे उल्लास को, पता नहीं कितने दिनों से, उसने अपने भीतर बांधकर रख छोड़ा है। उस दिन जब अशोक ने यकायक अपनी उस गलती की सूचना

दी, तो वह स्तम्भित हो उठी। संस्कृति और धर्म के समस्त विधान उस एक ही क्षण में, अपने आप उसके लिए शिथिल हो गये। आत्म-विस्मृत होकर उसने, जो उसके मन में आया, कह डाला। उसके पश्चात् पल-प्रतिपल में वह उसी ओर खिंचती गयी। कितनी बार उसने अपने आप को धिक्कारा, कितनी बार वह चुपचाप एकान्त में जा-जाकर रोयी, इसे कौन जानता है? अन्त में किसी तरह जब वह अपना समाधान न कर सकी, तो जो हो रहा है, वही होकर रहे, इसी को श्रेयस्कर मानकर वह कुछ स्थिर हो पायी थी। किन्तु आज उसी बात को लेकर ये कहते हैं कि भूल हो गयी थी! हाय रे दुस्स्वप्न! थोड़ी देर तक अपलक दृष्टि से वह अशोक को देखती रही। फिर कुछ बल संचयकर अप्रकृत स्वर में, जबरदस्ती मुख पर मुसकराहट लाकर बोली—उसमें ग़लती क्या थी?

"तुम उसे ग़लती नहीं मानती हो! तो यह तुम्हारी महानता है। तो भी मुझे कहने दो लीला, वह मेरा अपराध था।" अशोक ने अभी इतना ही कहा था कि लीला अपने आपको विमूढ़ चेतना में भरकर बोली—अपराध और पाप कभी मैं भी खूब मानती थी—समझती भी थी। किन्तु इन सब बातों पर अब मेरी ज़रा भी आस्था रह नहीं गयी है। मनुष्य का जीवन इतना सस्ता नहीं है कि उसे तृण मानकर नष्ट कर डाला जाय। इसके सिवा त्याग और बलिदान की भूखी, कालगति के दारुण

कशाघात ले पीड़ित, यह हमारी आज की हिन्दू-संस्कृति भी, ऐसी क्षुद्र नहीं बनना चाहती।

अशोक अपने को बड़ा चतुर समझता आया है; किन्तु इस क्षण उसने अनुभव किया कि आज की इस नारी के आगे उसका सारा चातुर्य व्यर्थ हो गया है! एक लहर उसकी भीतर उठी और उसके शरीर-भर को चरम उत्तरङ्ग करने लगी। तब उल्लसित मुद्रा में उसने कहा—तो सचमुच उसे वापस न लोगी लीला ?

चटुल मानस की हिलोर में सिर हिलाती लीला ने कह दिया—न, किसी तरह नहीं।

अशोक ने लक्ष किया, उसकी यह अस्वीकृति कहने को एक प्रकार से हुई है, किन्तु इस कथन में अन्तर का जितना योग है, बाह्य योग उससे कम महत्तम नहीं है; क्योंकि कथन के साथ न केवल सिर हिला है, वरन् कानों के नीचे झूमते हुए, मोतियों की झालर में बद्ध मूल, उसके इयर-रिङ्ग भी झोंका खाकर कैसे झूल गये हैं!

आध घण्टा बीतने में देर कितनी लगती है। अशोक घूम-घाम कर रीजेण्ट टाकीज़ में आ गया। टैक्सी को विदा कर के अशोक बाक्स का टिकट लेकर अन्दर जा पहुँचा। सोमरस की दो शीशियाँ उसके ओवरकोट में अब भी पड़ी थीं। एक शीशी उसने लीला को दे दी। अशोक जब अपनी शीशी का

काक खोलने लगा, तो बोला—आधी ही पीना अभी। अभ्यास न होने के कारण, सम्भव है, निर्वाह करने में कुछ असुविधा हो।

लीला ने पूछा नहीं कि यह है क्या चीज और इसका गुण क्या है? एक घूँट पीने पर उसने अनुभव किया कि कुछ भी हो, जीवन की तिक्तता की अपेक्षा यह कुछ भी कटु नहीं है। एक के बाद एक घूंट कण्ठगत करती हुई लीला यह भी भूल गयी कि उसे आधी शीशी ही पीनी है। खाली शीशी उसने अशोक को दे दी।

तीन मिनट बाद—

हाल में अन्धकार छा गया था और लीला अशोक के अङ्क में थी!

"तुम अब भी बराबर गलती किये जा रहे हो अशोक! तुम समझते हो कि एक नारी के विनष्टप्राय जीवन को तुमने उठाने की चेष्टा की है; किन्तु तुम यह भूल रहे हो कि तुमने प्रबोध के साथ अन्याय किया है! प्रबोध, माना कि अपने आप को अपराधी मानता है, तो इससे क्या हुआ? वह चाहता, तो अपने आप अपने घाव पर पट्टी बाँध लेता, या न चाहता, तो अपने उस अङ्ग को लेकर अन्ततोगत्वा स्वतः भी उसका साथ देता; किन्तु किसी के व्यक्तित्व के बीच तुम्हारे आ पड़ने की क्या आवश्यकता थी। मनुष्य-मात्र के प्रकृत विकास पर विश्वास रखने वाले अशोक, बताओ, इन दो आत्माओं के मन-प्राण को

मुट्ठी में कर के, उनके जीवन गत अभावों को उकसा कर अपनी वासना-तृप्ति के पथ को प्रशस्त करने की तुम्हारी यह गर्हित चेष्टा तुमको कहाँ ले जा रही है ?" अशोक के हृदय में अमृत-मन्थन चल रहा है।

"ऐसी कोई बात नहीं है। लीला नारी है, वैसी ही पूज्या जैसी मन्दाकिनी, जैसी यमुना ? और अशोक नर-पशु नहीं बनेगा।...ओह ! सिर के बाल क्या हैं, रेशम के लच्छे भी इनके आगे अच्छे नहीं जँचते। ओह ! संभलो, उठो, देखो ठीक तरह से बैठो।...तुम नारी हो लीला, माना कि तुम दुखी हो। प्रबोध तुम्हारे मन-प्राण में अमृत घोलने की सामर्थ्य नहीं रखता। शरीर-धर्म में वह हीन है। तो भी तुम हिन्दू नारी हो ! पवित्रता और उत्सर्ग तुम्हारी रूप-रेखा है। सेवा और त्याग तुम्हारा जीवन ! और प्रबोध पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम है। जरा ध्यान से देखो उसको। वह तुम्हारा स्वामी है, जीवन-सहचर। उसको लेकर ही तो तुम नारी हो सकी हो। नहीं तो, तुम्हारी गति नहीं है। आदर्शों का निर्माण एक दिन में नहीं होता। वह युगों की साधना से उत्थित होता है। माना कि जीवन तृण की भाँति फेंकने-खोने की वस्तु नहीं है; किन्तु जीवन केवल भोग और क्रीड़ा-कौतुक की चीज भी तो नहीं है। क्या तुम प्रबोध में नव-जीवन नहीं डाल सकतीं ? क्या यह सम्भव नहीं है कि तुम उसकी ओर अपनी समस्त दुर्बलताओं से ऊँची उठ कर अपने

संसार का फिर से निर्माण कर सको ? तुम आदि-शक्ति हो लीला। तुम्हारी सामर्थ्य की सीमा नहीं है। तुमने अपने को ऐसा तुच्छ क्यों बना रखा है ?" अशोक कहता ही गया, कभी धीरे-धीरे उसके कर्ण-रन्ध्रों में स्वर-वेध कर के, कभी कुछ जोर से प्रभावोत्तेजक प्रकार से।

लीला अब भी चुप है। वह कुछ कहना नहीं चाहती। कहने को उसके पास कुछ रह भी नहीं गया है। हाँ, एक बात जरूर है कि इन तीन घण्टों में वह अशोक को समझ सकी है। उसे प्रतीत हुआ है कि वह देवता है और अभी तक उसने जो उसे मनुष्य समझ रखा था, वह उसकी भूल थी। वह इतना ऊँचा है कि लीला उसे छू नहीं पाती। वह प्राप्य नहीं है। वह तो उस पार का है और इस पार जो अकस्मात् आ गया है, वह उसका भाग्य है—उसके जीवन का दुर्लभ संयोग।

दोनों टैक्सी पर बैठे हैं और घर को वापस जा रहे हैं। अशोक कभी-कभी कुछ कह उठता है। लीला चुपचाप सुन रही है।

हमारा यह जीवन भी एक चित्रपट है। मञ्जिल का यह सुरेश अचला के जीवन में अचानक आ गया था। कौन जानता था कि वह व्यक्ति—जिससे पहले-पहल अचला भागी-भागी फिरती थी, कभी उपेक्षा से, कभी दुर्बलता से—उसके जीवन को इतना विवश-विपन्न, इतना चरमहीन, इतना अनुताप-दग्ध

कर डालेगा ! वही अचला चाहे तो अब, जब सुरेश खो गया है, उससे घृणा कर ले और चाहे तो उसकी स्मृति में चार आँसू भी गिरा ले, किन्तु सुरेश-सुरेश है और रहेगा। वह कभी महिम नहीं बन सकता। प्रबोध भी अशोक नहीं बन सकता लीला ! मैं यह स्वीकार करता हूँ। किन्तु मृणाल को भी तुमने देखा है। यदि अचला मृणाल की ओर ध्यान से देख पाती, यदि वह अपने जीवन को उसके स्पर्श से भिगो सकती, तो वह सुरेश की अपेक्षा महिम को सदा अपने निकट पा सकती थी। मैं स्पष्ट रूप से जानना चाहता हूँ, लीला क्या तुमने मुझे सुरेश समझ रखा है ?

लीला का कण्ठ भर आया है, उसकी आँखों से मोती गिर रहे हैं। वह फिर अशोक के अङ्क में है।

वही रूमाल है और वही लीला और अशोक उसके आँसू पोंछता हुआ कहता है- मैं तुम्हें मृणाल के रूप में देखना चाहता हूँ लीला।

किसी प्रकार कुछ मिनटों में लीला संभल कर बैठ गयी। बोली, कल तुम जरूर चले जाओगे ?

"हाँ, जरूर।"

"क्या दो दिन भी और रुक नहीं सकते ?"

"नहीं रुक सकता। मजबूर हूँ"

"फिर कब आओगे ?"

क्षण-भर रुक कर अशोक बोला—कुछ ठीक नहीं है लीला मालूम नहीं, फिर कभी मिलना होगा भी कि नहीं।

घर आ गया था। दोनों टैक्सी को बिदा कर के अन्दर की ओर चल पड़े। अशोक ने धक्का देकर किवाड़ खोले। फिर अपने ठहरने के रूम में जा कर वह कपड़े बदलने लगा। थोड़ी देर में नौकरानी ने उसके पास आ कर कहा—बहू जी को चल कर जरा देखिये बाबू मालूम नहीं, उनको क्या हो गया है!

अशोक ने भीतर पहुँच कर देखा, लीला मूर्च्छित पड़ी है उसके सिर के निकट एक खुला हुआ पत्र है। उसमें लिखा हुआ है—"मुझे खोजने की चेष्टा न करना; क्योंकि मैंने अपना रास्ता पा लिया है। मुझ से गलती हुई थी, मैं फिर भी उसे सपोर्ट ही करता रहा। आज मैंने जान पाया है कि यह तो एक प्रकार की हिंसा है। और इस प्रकार की हिंसा को अधिक प्रश्रय देना प्रबोध को स्वीकार नहीं है।"